विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक १ जनवरी २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
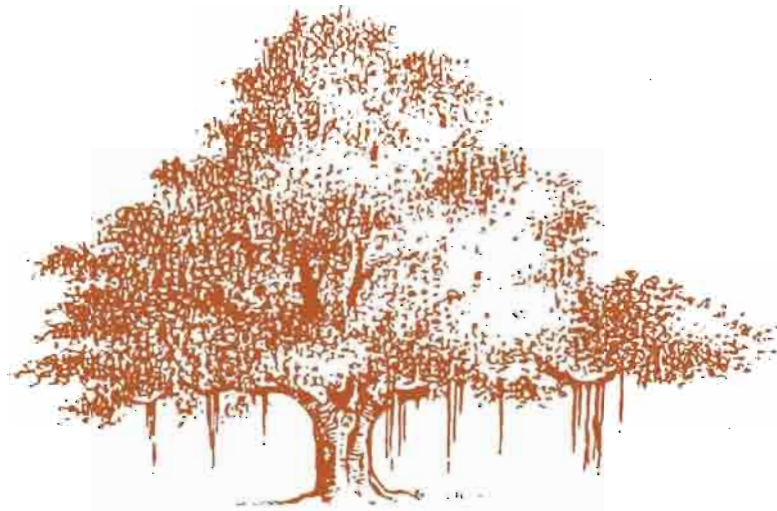
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जनजीवन की प्रत्येक विधा में एक नवजीवन का सचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, शकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द – ऐसी कालजयी विभूतियों का जीवन एव कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होता है और सहस्रों वर्षों तक कोटि कोटि लोगों की श्रद्धा एव प्रेरणा का स्रोत बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करता है। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि इन दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई पूरे भारत को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू सस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्म शताब्दी वर्ष १९६३ ई. में इसे त्रैमासिक के रूप में प्रारम्भ किया गया था। तब से ३७ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक अबाध गति से प्रकाशित होकर इस 'ज्योति' ने भारत के कोने कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों के अन्तर को भी उद्भासित किया है। पिछले वर्ष से यह मासिक के रूप में प्रकाशित हो रही है।

क्या आप भी इसके प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहायक होकर घर घर पहुँचाने में हमारा हाथ नहीं बटाएँगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम से कम पाँच नये सज्जनों को 'विवेक-ज्योति' के परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प मात्र ५० रुपये तथा २५ वर्षों के लिए ७०० रुपये है। अपने मित्रों, परिचितों तथा सम्बन्धियों से अगले वर्ष के लिए इसका वार्षिक शुल्क एकत्रकर अथवा अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें भेज दें।

– व्यवस्थापक , विवेक-ज्योति कार्यालय
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२००१ (म.प्र.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान	-	रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता	-	मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक	-	स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक	-	स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता	-	भारतीय
पता	-	रामकृष्ण मिशन, रायपुर
स्वत्वाधिकारी	-	रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी तत्वबोधानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें – 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रु. ३/– का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी. पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमारे कार्यालय को मत भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिए 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।
विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३८ | जनवरी २००० | अंक १

आचार्य-सप्तकम्

रवीन्द्रनाथ गुरु

रामकृष्ण मिशन्नाम यतिसंघविधायकः ।
विवेक-ज्योतिरानन्दं ददात्वाचार्य एव नः ।।१।।

– रामकृष्ण मिशन नामक संन्यासियों के संगठन का निर्माण करनेवाले आचार्य विवेकानन्द हमें विवेक का आलोक तथा आनन्द प्रदान करें ।

महिम्नो भव्यमूर्त्तिश्च गैरिकाम्बरमण्डितः ।
गैरिकोष्णीष-भूषोऽव्यादाचार्याय नमो नमः ।।२।।

– जो महिमान्वित भव्य विग्रहवाले और गैरिक वस्त्रों से विभूषित और गैरिक पगड़ी से सुशोभित हैं, ऐसे आचार्य को हमारा बारम्बार नमस्कार है । वे हमारी रक्षा करें ।

वीरेश्वरो विश्वनाथप्रियो यो विश्वगौरवः ।
उनविंशशताब्देश्च धर्माचार्योऽवताद्धि सः ।।३।।

– जो वीरेश्वर नामवाले, विश्वनाथ शिव के प्रिय-भक्त तथा विश्व के गौरव हैं, ऐसे आचार्य ने १९वीं शताब्दी का धर्म निर्धारित किया ।

सद्भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-याचको विश्वमातरि ।
विवेकानन्दवर्योऽसौ विवेकित्वं प्रयच्छतु ।।४।।

– जगदम्बा से भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि की याचना करनेवाले यतिश्रेष्ठ विवेकानन्द हमें विवेक प्रदान करें ।

हिन्दूनां धर्मसिद्धान्त-तत्त्वसारप्रकाशकः ।
विवेकानन्दस्वामीति संज्ञकस्तनुतां मुदम् ।।५।।

– हिन्दुओं के धर्म-दर्शन के सिद्धान्तों का सार प्रचारित करने-वाले विवेकानन्द नामक स्वामी सबका आनन्दवर्धन करें ।

यदीयादर्शदर्शित्वादात्मानं विन्दते नरः ।
विवेक-ज्योतिरुद्दीप्तो नमस्योध्येयरष सः ।।६।।

– जिनकी 'विवेक-ज्योति' से उद्भासित आदर्श के द्वारा अनुप्राणित होकर मानव अपनी अन्तरात्मा को जान लेता है, ऐसे स्वामीजी हमारे प्रणम्य तथा ध्यान के योग्य हैं ।

श्रीरामकृष्ण-भक्त्यैकनिष्ठाय ब्रह्मचारिणे ।
विवेकिने नमोऽस्माकमाचार्याय नमो हि ते ।।७।।

– जिनकी श्रीरामकृष्ण के चरणों में अनन्य भक्ति-निष्ठा है, जो अखण्ड ब्रह्मचारी हैं, जो विवेकवान हैं, ऐसे अपने आचार्य विवेकानन्द को हम नमस्कार करते हैं ।
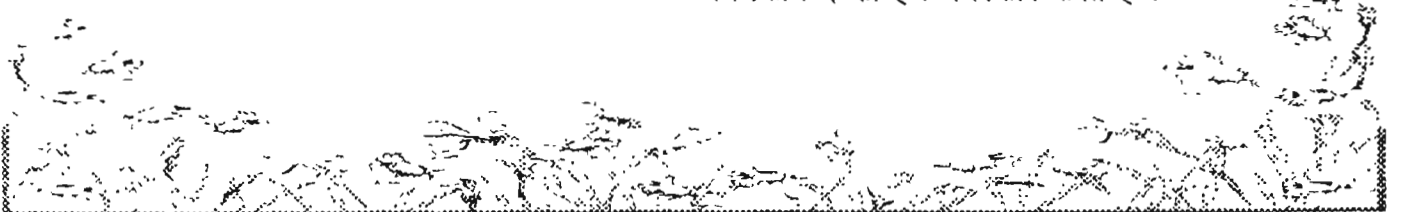
विवेक-गीति

'विदेह'

चारों ओर खड़े हैं ईश्वर बहु रूपों में,
इन्हें छोड़ तुम कहाँ खोज करते हो उनकी ।
सब जीवों की प्रेम-सहित सेवा जो करते,
वे ही करते हैं सच्ची पूजा ईश्वर की ।।

– १ –

(भैरवी - एकताल)

गरीब दीन अज्ञ को, उपास्य देव मान लो;
इन्हीं की सेवा-सुश्रुषा, है धर्म उच्च जान लो ।।

कहो सदा दिवस-निशा, जननि हमें मनुज करो;
हमारी हीनता को भीरुता को कर कृपा हरो ।।

असीम शक्तियाँ तुम्हारे रोम रोम में भरीं;
अतः किसी भी हाल में कदापि तुम डरो नहीं ।।

न भूलो मित्र तुम सदैव शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो;
प्रमाद की निशा में स्वप्न देखते प्रसुप्त हो ।।

काम-क्रोध-लोभ-मोह, दम्भ-द्वेष को तजो;
अभिः का अग्निमंत्र लो, स्वभ्रान्ति से उठो जगो ।।

अभीष्ट-प्राप्ति के बिना, स्वमार्ग से न तुम टलो;
रुकावटों को भूलकर, बढ़े चलो बढ़े चलो ।।

– २ –

(भूपाली - एकताल)

भारतवासी भूल न जाना, अपने चिर आदर्श महान;
इन पर चलकर कभी मिला था, भारत को गौरव-सम्मान ।।

वेद-उपनिषद् भगवद्-गीता, हरि-हर-कृष्ण-राम सह सीता;
इनके दर्शित पथ पर चलकर, प्राप्त करोगे पद-निर्वाण ।।

ये जो दीन दुखी अगणित है, अज्ञ-अशिक्षित और पतित हैं;
सेवा करो प्रीति-निष्ठा से, इनको प्रभु की मूरत जान ।।

सत्यलाभ ही ध्येय तुम्हारा, भक्ति-ज्ञान का गहो सहारा;
सब कर्मों को पूजा मानो, करो तुच्छ जीवन बलिदान ।।

करो प्रार्थना हे त्रिलोकपति, दो मुझको बल और विमल मति;
नाश करो दुर्बलता मेरी, मानव होऊँ सिंह समान ।।

हमारी मातृभूमि और उसकी महिमा

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की सम्पूर्ण ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था। यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है और इस कारण बड़ा लोकप्रिय भी हुआ है। अब हम हिन्दी के पाठकों के लिए भी 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में इसका धारावाहिक प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं - सं.।)

यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जिसे हम पुण्यभूमि कह सकते हैं; यदि ऐसा कोई स्थान है, जहाँ पृथ्वी के सब जीवों को अपना कर्मफल भोगने के लिए आना पड़ता है; यदि ऐसा कोई स्थान है, जहाँ भगवान की ओर उन्मुख होने के प्रयत्न में सलग्न रहनेवाले जीवमात्र को अन्ततः आना होगा; यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ मानव जाति में क्षमा, धृति, दया, शुद्धता आदि सद्वृत्तियों का सर्वाधिक विकास हुआ है और सर्वोपरि यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ आत्मविद्या तथा आध्यात्मिकता का विकास हुआ है, तो वह देश भारत ही है। ... यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ दूसरे देशों को जाने से पहले तत्त्वज्ञान ने आकर अपना निवास बनाया था; यह वही भारत है, जहाँ के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसमें प्रवाहित हो रहे समुद्राकार नद हैं; जहाँ एक के पीछे एक उठती हुई, चिरन्तन हिमालय की हिमशिखरें मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रही हैं। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर ससार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरण-रज पड़ चुकी है। सर्वप्रथम यहीं पर मनुष्य के स्वरूप तथा अन्तर्जगत् के विषय में जिज्ञासाओं के अकुर उगे थे। सर्वप्रथम यहीं पर आत्मा के अमरत्व, और प्रकृति तथा मानव में व्याप्त एक विश्वनियन्ता ईश्वर के अस्तित्व विषयक मतवादों का उद्भव हुआ था। और यहीं धर्म तथा दर्शन के आदर्शों ने अपनी चरम उन्नति प्राप्त की थी।

हमारा पवित्र भारतवर्ष धर्म तथा दर्शन की पुण्यभूमि है। यही बड़े बड़े महात्माओं तथा ऋषियों की जन्मभूमि है, यही सन्यास व त्याग की भूमि है और यहीं – केवल यहीं पर, आदि काल से लेकर आज तक मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च आदर्शों का द्वार खुला हुआ है। यह देश धर्म, दर्शन, नीतिशास्त्र, मधुरता, कोमलता और प्रेम की मातृभूमि है। ये सभी चीजें भारत में अब भी विद्यमान हैं। मुझे दुनिया के सम्बन्ध में जो भी जानकारी है, उसके बल पर मैं दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि इन बातों में पृथ्वी के अन्य देशों की अपेक्षा भारत अब भी श्रेष्ठ है।

यह वही भारत है, जो शताब्दियों के आघात, विदेशियों के असख्य आक्रमण और सैकड़ों आचार-व्यवहारों के हलचलों को झेलकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है, जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढ़तर भाव से खड़ा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि का जीवन है, और हम इसी देश की सन्तान हैं। जब यूनान का अस्तित्व नहीं था, जब रोम भविष्य के अन्धकारमय गर्भ में निहित था, जब आधुनिक यूरोपवासियों के पुरखे घने जंगलों में छिपे रहते थे तथा अपने शरीर को नीले रंग से रगा करते थे, तब भी भारत क्रियाशील था। उससे भी पहले, जिस समय का इतिहास में कोई लेखा नहीं है, जिस सुदूर धुँधले अतीत की ओर झाँकने का साहस परम्परा को भी नहीं होता, तब से लेकर अब तक न जाने कितने ही भाव एक के बाद एक भारत से प्रसारित हुए हैं, परन्तु उनका प्रत्येक शब्द आगे शान्ति तथा पीछे आशीर्वाद के साथ उच्चरित हुआ है। सारे संसार का इतिहास पढ़ देख लो; जितने भी उच्च भाव हैं, वे सब पहले भारत में ही जन्मे हैं। चिरकाल से भारतवर्ष का जनसमाज ही भावों की खान रहा है; उसने नये नये भाव उत्पन्न कर सम्पूर्ण जगत् में वितरित किये हैं। ऐतिहासिक शोधों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उत्तम नीतिशास्त्र से युक्त ऐसा कोई भी देश नहीं है, जिसने उसका कुछ-न-कुछ अंश हमसे न लिया हो और आत्मा के अमरत्व का ज्ञान रखनेवाला कोई ऐसा धर्म नहीं है, जिसने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में वह हमसे ही न लिया हो। यह वही भूमि है, जहाँ से धर्म तथा दार्शनिक तत्त्वों ने उमड़ती हुई बाढ़ की भाँति पूरे जगत् को बारम्बार प्लावित कर दिया है और इसी भूमि से एक बार फिर वैसी ही तरंगें उठकर निस्तेज जातियों में शक्ति और जीवन का संचार कर देंगी।

संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है। यदि विभिन्न देशों की आपस में तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि सारा ससार सहिष्णु व निरीह हिन्दू का जितना ऋणी है, उतना अन्य किसी जाति का नहीं। जैसे कोमल ओसकण अनदेखे तथा अनसुने गिरकर भी परम सुन्दर गुलाब की कलियों को खिला देते हैं, वैसा ही भारत के दान का प्रभाव संसार की विचारधारा पर पड़ता रहता है। शान्त, अज्ञात, पर महाशक्ति के अदम्य बल से उसने सारे जगत् के विचारों में क्रान्ति ला दी है – एक नया युग ला दिया है; पर कोई भी नहीं जानता कि ऐसा कब हुआ।

प्राचीन और वर्तमान काल में भी अनेक शक्तिशाली तथा महान् जातियों ने उच्च भावों को जन्म दिया है, पुराने समय में और आज भी बहुत से अनोखे तत्त्व एक जाति से दूसरी जाति में पहुँचे हैं; फिर यह भी सत्य है कि किसी किसी राष्ट्र की गतिशील जीवन-तरंगों ने महा-शक्तिशाली सत्य के बीजों को चारों ओर बिखेरा है। परन्तु भाइयो! तुम यह भी देख पाओगे कि रणभेरी के निर्घोष तथा रण-सज्जा से सज्जित सैन्य-समूह की सहायता से ही ऐसे सत्यों का प्रचार हुआ है। बिना रक्त-प्रवाह में सिक्त हुए, बिना लाखों स्त्री-पुरुषों के खून की नदी में स्नान किए, कोई भी नया भाव आगे नहीं बढ़ा। प्रत्येक ओजस्वी भाव के प्रचार के साथ-ही-साथ असख्य लोगों का हाहाकार, अनाथों और असहायों का करुण क्रन्दन और विधवाओं का अजस्र अश्रुपात् होते देखा गया है। प्रधानतः इसी उपाय द्वारा अन्य देशों ने ससार को शिक्षा दी है, परन्तु भारत इस उपाय का आश्रय लिए बिना ही हजारों वर्षों से शान्तिपूर्वक जीवित रहा है।

ये पश्चिमी देशवाले Suvival of the fittest (योग्यतम की अतिजीविता) के नये सिद्धान्तों के विषय में बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें हाँकते हैं और सोचते हैं कि जिसकी भुजाओं में सबसे अधिक बल है, वही सर्वाधिक काल तक जीवित रहेगा। यदि यह बात सच होती, तो पुरानी दुनिया की कोई वैसी ही जाति, जिसने अपने बाहुबल से कितने ही देशों पर विजय पायी थी, आज अपने अप्रतिहत गौरव से संसार में जगमगाती हुई दिखायी देती और हमारी कमजोर हिन्दू जाति, जिसने कभी किसी जाति या राष्ट्र को पराजित नहीं किया है, आज पृथ्वी से विलुप्त हो गयी होती। पर अब भी हम तीस (अब करीब नब्बे) करोड़ हिन्दू जीवित हैं। ...ससार के सभी देशों में एकमात्र हमारे देश ने ही लड़ाई-झगड़ा करके किसी अन्य देश को पराजित नहीं किया है — इसका शुभाशीर्वाद हमारे साथ है और इसी कारण हम अब तक जीवित हैं।

यूनान देश का गौरव आज अस्त हो चुका है। अब तो कहीं उसका चिह्न तक दिखायी नहीं देता। परन्तु एक समय था, जब प्रत्येक पार्थिव भोग्य वस्तु के ऊपर रोम की सेनांकित विजय-पताका फहराया करती थी, रोमन लोग सर्वत्र जाते और मानव-जाति पर प्रभुत्व स्थापित करते थे। रोम का नाम सुनते ही पृथ्वी काँप उठती थी, परन्तु आज उसी रोम का कैपिटोलाइन पहाड़ एक खण्डहर का ढूह मात्र है। जहाँ सीजर राज्य करता था, वहाँ आज मकड़ियाँ जालें बुनती हैं। इसी प्रकार कितने ही परम वैभवशाली राष्ट्र उठे और गिरे। विजयोल्लास और भावावेशपूर्ण प्रभुत्व का कुछ काल तक कलुषित राष्ट्रीय जीवन बिताकर, वे सागर की तरंगों की भाँति उठकर, फिर मिट गए। इसी प्रकार ये सब राष्ट्र किसी समय मानव-समाज पर अपना दबदबा जमाकर, अब मिट चुके हैं। परन्तु हम लोग आज भी जीवित हैं। आज यदि मनु इस भारतभूमि पर लौट आयें, तो उन्हें जरा-भी आश्चर्य न होगा, उन्हें ऐसा नहीं लगेगा कि कहाँ आ पहुँचे? वे देखेंगे कि हजारों वर्षों के सुचिन्तित तथा परीक्षित वे ही प्राचीन विधान यहाँ आज भी विद्यमान हैं, युगों से एकत्र ज्ञानराशि तथा शताब्दियों के अनुभव के फलस्वरूप वही सनातन आचार-विचार यहाँ आज भी मौजूद है। और जितने ही दिन बीतते जा रहे हैं, जितने ही दुःख-दुर्भाग्य आते हैं और उन पर लगातार आघात करते हैं, उनसे एकमात्र यही उद्देश्य सिद्ध होता है कि वे और भी मजबूत, और भी स्थायी रूप धारण करते जा रहे हैं।

आपने क्या ऐसे देश का नाम सुना है, जिसके बड़े बड़े राजा अपने को प्राचीन राजाओं अथवा पुरातन दुर्गनिवासी, पथिकों का सर्वस्व लूट लेनेवाले, Barons (डाकू सामन्तों) के वशज न बताकर, अरण्यवासी अर्धनग्न तपस्वियों की सन्तान कहने में ही अधिक गौरव समझते हैं ? यदि आपने न सुना हो तो सुनिए — हमारी मातृभूमि ही वह देश है। ... मेरे जैसा गर्वीला मनुष्य इस संसार में शायद ही कोई दूसरा हो, परन्तु मैं स्पष्ट रूप से बता देना चाहता हूँ कि यह गर्व मुझमें अपने स्वय के गुण या शक्ति के कारण नहीं, बल्कि अपने पूर्वजों के गौरव के कारण आया है। जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही मैंने भूतकाल की ओर दृष्टि डाली है, उतना ही अधिक यह गर्व मुझमें आता गया है। इससे मुझे श्रद्धा का इतना बल तथा साहस प्राप्त हुआ है, जिसने मुझे धरती को धूलि से ऊपर उठाया है और मैं अपने उन महान् पूर्वजों द्वारा निर्धारित की गयी योजना के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ। हे उन्हीं प्राचीन आर्यों की सन्तानो! ईश्वर करें कि तुम लोगों के हृदय में भी वही गर्व आविर्भूत हो जाय, अपने पूर्वजों के प्रति वही विश्वास तुम लोगों के रक्त में दौड़ने लगे, वह तुम्हारे जीवन से मिलकर एक हो जाय और ससार के उद्धार के लिए कार्यशील हो! ...यहीं से उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम चारों ओर दार्शनिक ज्ञान की प्रबल धाराएँ प्रवाहित हुई हैं, और यहीं से पुनः वह धारा बहेगी, जो वर्तमान जड़वादी सभ्यता को आध्यात्मिक जीवन प्रदान करेगी। विदेशों के लाखों स्त्री-पुरुषों के हृदय में भौतिकवाद की जो अग्नि धधक रही है, उसे बुझाने के लिए जिस जीवनदायी सलिल की आवश्यकता है, वह केवल यहीं विद्यमान है।

भारत का जीवन-केन्द्र

प्रत्येक जाति के जीवन का कोई-न-कोई उद्देश्य है और जैसा कि स्वाभाविक है प्रत्येक जाति अपना निजी वैशिष्ट तथा व्यक्तित्व लेकर जन्म ग्रहण करती है। राष्ट्रों के स्वर-सामजस्य में प्रत्येक जाति मानो एक एक पृथक् स्वर का प्रतिनिधित्व करती है और सभी जातियाँ मिलकर एक सुमधुर सगीत की सृष्टि करती हैं । वह पृथक् स्वर ही उसकी जीवनी शक्ति है, उसके जातीय जीवन का मेरुदण्ड या मूल भित्ति है। किसी देश में, यथा इग्लैंड में राजनीतिक सत्ता ही उसकी जीवनी-शक्ति है । कला-कौशल की उन्नति करना किसी अन्य राष्ट्र का प्रधान लक्ष्य है। ऐसे ही दूसरे देशों के विषय में भी समझो। मैंने देखा है कि 'सामाजिक जीवन पर धर्म का कैसा प्रभाव पड़ेगा' – यह दिखाये बिना मैं अमेरिकावासियों में धर्मप्रचार नहीं कर सकता था और इग्लैण्ड में भी यह बताये बिना कि 'वेदान्त के द्वारा क्या क्या आश्चर्यजनक राजनीतिक परिवर्तन हो सकेंगे' – मैं धर्मप्रचार नहीं कर सका ।

हमारी इस पवित्र मातृभूमि का मेरुदण्ड, मूल भित्ति या जीवनकेन्द्र एकमात्र धर्म ही है। ... भारतवर्ष में धर्म ही राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र है और वही राष्ट्रीय जीवनरूपी संगीत का प्रधान स्वर है। ... दूसरे लोग भले ही राजनीति को, व्यापार के बल पर अगाध धनराशि अर्जित करने के गौरव को, वाणिज्य-नीति की शक्ति और उसके प्रचार को, बाह्य स्वाधीनता-प्राप्ति के अपूर्व सुख को महत्व देते रहें, परन्तु हिन्दू अपने मन में न तो इनके महत्व को समझते हैं और न समझना ही चाहते हैं। हिन्दुओं के साथ धर्म, ईश्वर, आत्मा, अनन्त तथा मुक्ति के विषय में बातें कीजिए और मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ, अन्यान्य देशों के दार्शनिक कहे जानेवाले व्यक्तियों की अपेक्षा यहाँ का एक साधारण किसान भी इन विषयों में अधिक जानकारी रखता है।

अत: भारत में सामाजिक सुधार का प्रचार तभी हो सकता है, जब यह दिखा दिया जाय कि उस नयी प्रथा से आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में कौन-सी विशेष सहायता प्राप्त होगी। राजनीति का प्रचार करने के लिए हमें दिखाना होगा कि उसके द्वारा आध्यात्मिक उन्नति रूपी हमारे राष्ट्रीय-जीवन की आकाक्षा की कितनी अधिक पूर्ति हो सकेगी।

इस ससार में प्रत्येक व्यक्ति को और उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को भी अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। हमने युगों पूर्व अपना पथ निर्धारित कर लिया था और अब हमें उसी पर डटे रहना चाहिए – उसी के अनुसार चलना चाहिए। फिर, हमारा यह चयन भी तो कोई इतना बुरा नहीं है। जड़ की जगह पर चैतन्य का और मनुष्य की जगह पर ईश्वर का चिन्तन करना क्या ससार में इतनी बुरी चीज है? परलोक में दृढ़ आस्था, इस लोक के प्रति तीव्र विरक्ति, प्रबल त्याग-शक्ति एव ईश्वर और अविनाशी आत्मा में दृढ़ विश्वास तुम लोगों में सतत विद्यमान है। क्या तुम इसे छोड़ सकते हो? नहीं, तुम इसे कभी नहीं छोड़ सकते। तुम कुछ दिन भौतिकवादी होकर और भौतिकवाद की चर्चा करके भले ही मुझमें विश्वास जमाने की चेष्टा करो, पर मैं जानता हूँ कि तुम क्या हो। तुमको थोड़ा धर्म अच्छी तरह समझा देने भर की देर है कि तुम परम आस्तिक हो जाओगे। जरा सोचो, तुमअपना स्वभाव भला कैसे बदल सकते हो? ... तुम्हारी राजनीति, समाज-सुधार, धन कमाने के उपाय, वाणिज्य-नीति आदि की बातें बतख की पीठ से जल के समान कानों से बाहर निकल जायेंगी।

भला हो या बुरा, हमारे राष्ट्र की जीवनी-शक्ति धर्म में ही केन्द्रीभूत है। तुम इसे बदल नहीं सकते, नष्ट नहीं कर सकते और न ही उसे हटाकर, इसकी जगह किसी अन्य चीज को ही रख सकते हो। तुम किसी विशाल उगते हुए वृक्ष को एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह नहीं लगा सकते और न ही वह वहाँ शीघ्र ही जड़ें पकड़ सकता है। भला हो या बुरा, भारत में हजारों वर्षों से धार्मिक आदर्श की धारा प्रवाहित हो रही है। भला हो या बुरा, भारत का वायुमण्डल इसी धार्मिक आदर्श से बीसियों सदियों तक पूर्ण रहकर जगमगाता रहा है। भला हो या बुरा, हम इसी धार्मिक आदर्श के भीतर जन्मे तथा पले हैं – यहाँ तक कि अब यह हमारे रक्त में ही मिल गया है; हमारे रोम-रोम में यही आदर्श रम रहा है, यह हमारे शरीर का अश तथा हमारी जीवनी-शक्ति बन गया है। क्या तुम उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया जगाये बिना ही, हजारों वर्षों के दौरान इस वेगवती नदी द्वारा बनाये गये पाट को भरे बिना ही इस धर्म को त्याग सकते हो? क्या तुम कहते हो कि गंगा की धारा फिर बर्फ से ढँके हिमालय को लौट जाय और वहाँ से नवीन धारा बनकर पुन: प्रवाहित हो? यदि ऐसा होना सम्भव भी हो, तो भी यह कदापि सम्भव नहीं होगा कि यह देश अपने धर्ममय जीवन के विशिष्ट मार्ग को छोड़ दे और राजनीति या कोई अन्य मार्ग अपना ले। तुम केवल न्यूनतम बाधाओं के मार्ग से ही कार्य कर सकते हो और भारत के लिए धर्म ही अल्पतम बाधावाला मार्ग है। धर्मपथ का अनुसरण करना ही हमारे जीवन, हमारी उन्नति और हमारे कल्याण का भी मार्ग है।

यदि कोई राष्ट्र अपनी स्वाभाविक जीवनी-शक्ति को दूर करने का प्रयास करे – शताब्दियों से जिस दिशा की ओर उसकी विशेष गति हुई है, उससे मुड़ जाने का प्रयत्न करे –

और यदि वह इसमें सफल हो जाय, तो वह राष्ट्र मर जाता है। अतः यदि तुम धर्म को फेंककर राजनीति, समाज-नीति या किसी अन्य नीति को अपनी जीवन-शक्ति का केन्द्र बनाने में सफल हो जाओ, तो इसके फलस्वरूप तुम्हारा अस्तित्व तक मिट जायेगा। ... इसे छोड़ोगे तो मृत्यु निश्चित है। यदि तुम इस जीवन प्रवाह से बाहर निकल आये, तो मृत्यु ही एकमात्र परिणाम और पूर्ण नाश ही एकमात्र परिणति होगी। ... भारतवर्ष का प्राण धर्म और एकमात्र धर्म ही है। उसके जाने पर राजनीतिक उन्नति, समाज-सुधार या उसकी प्रत्येक सन्तान के सिर पर ढाला गया कुबेर का ऐश्वर्य भी कुछ नहीं कर सकता। ... मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरी चीजों की आवश्यकता ही नहीं है, मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, परन्तु मेरा तात्पर्य यह है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहूँगा कि ये सभी गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है।

यदि जीवन का रक्त सशक्त एवं शुद्ध हो, तो शरीर में विषैले कीटाणु नहीं रह सकते। हमारी आध्यात्मिकता ही हमारा जीवन-रक्त है। यदि यह साफ बहता रहे, यदि शुद्ध व सशक्त बना रहे, तो सब ठीक है। राजनीतिक, सामाजिक और चाहे जैसी भी सासारिक त्रुटियाँ हों, यहाँ तक देश की निर्धनता भी; यदि खून शुद्ध है, तो सब ठीक हो जायेगा।

उदाहरण के लिए हम आधुनिक चिकित्सा शास्त्र की एक उपमा लें। हम जानते हैं कि किसी बीमारी के दो कारण होते हैं — एक तो शरीर में बाहर से कुछ विषैले जीवाणुओं का प्रवेश और दूसरा शरीर की अवस्था-विशेष। यदि शरीर की अवस्था ऐसी न हो जाय कि वह जीवाणुओं को घुसने दे, यदि शरीर की जीवनी-शक्ति इतनी क्षीण न हो जाय कि जीवाणु शरीर में घुसकर बढ़ते रहें, तो ससार के किसी भी जीवाणु में इतनी शक्ति नहीं, जो शरीर में पैठकर बीमारी पैदा कर सके। वस्तुत: हर मनुष्य के शरीर में सदा करोड़ों जीवाणु प्रवेश करते रहते हैं, परन्तु जब तक शरीर बलवान है, हमें उनकी खबर नहीं रहती। जब शरीर कमजोर हो जाता है, तभी ये विषैले जीवाणु उस पर अधिकार कर लेते हैं और रोग पैदा करते हैं।

अत: रोग की चिकित्सा हेतु हमें उसकी जड़ तक जाकर रक्त के समस्त दोषों को निकाल देना होगा। उद्देश्य यह होगा कि मनुष्य सशक्त हो, उसका रक्त शुद्ध और शरीर तेजस्वी हो, ताकि वह सब बाहरी विषों को दबाने तथा हटाने में समर्थ हो सके। हमने देखा कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल, और यही नहीं, हमारे राष्ट्रीय जीवन की भी नींव है। वही हमारे राष्ट्र का जीवन है और उसे अवश्य ही सशक्त बनाना होगा।

तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उस पर अपना सर्वस्व न्यौछावर किया था। तुम्हारे पूर्वजों ने धर्मरक्षा के लिए सब कुछ उत्साहपूर्वक सहन किया था, यहाँ तक कि मृत्यु का भी आलिंगन किया था। विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े गये, परन्तु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मन्दिर के कलश फिर खड़े हो गये। दक्षिण के ये कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहन अन्तर्दृष्टि प्रदान करेंगे, जो ढेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती। देखो, किस तरह ये मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिह्न धारण किए हुए हैं! किस प्रकार ये बार बार नष्ट हुए और बार बार ध्वसावशेष से उठकर नवजीवन प्राप्त करते हुए, अब पहले ही की भाँति अटल भाव से खड़े हैं! इस धर्म से होकर ही हमारा राष्ट्रीय मन और हमारा राष्ट्रीय जीवन प्रवाहित होता है। इसका अनुसरण करने पर यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा।

भारतीय मन पहले धार्मिक है, फिर अन्य कुछ। अतः धर्म को ही सशक्त बनाना होगा। ... अपनी जीवन-शक्तिरूपी धर्म के भीतर से ही तुम्हें सारे कार्य करने होंगे — अपनी हर क्रिया का केन्द्र इस धर्म को ही बनाना होगा। तुम्हारी स्नायुओं का प्रत्येक स्पन्दन तुम्हारे इस धर्मरूपी मेरुदण्ड के भीतर से होकर गुजरे। ...भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं — त्याग और सेवा। उसकी इन धाराओं में गति लाइये और बाकी सब कुछ अपने आप ही ठीक हो जायेगा। इस देश में आध्यात्मिकता की पताका चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न उठाया जाय, वह पर्याप्त नहीं होता। और केवल इसी में भारत का उद्धार है।

भारतीय राष्ट्र कभी नष्ट नहीं हो सकता। यह अमर है और तब तक टिका रहेगा, जब तक कि इसका धर्मभाव अक्षुण्ण बना रहेगा, जब तक इस देश के लोग अपना धर्म नहीं त्याग देते। चाहे वे भिखारी रहें या निर्धन, चाहे दरिद्रता से पीड़ित हों अथवा मैले और घिनौने हों, परन्तु वे अपने ईश्वर का परित्याग कभी न करें, कभी न भूलें कि वे ऋषि-सन्तान हैं।

सन्दर्भ सूची - विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड. पृष्ठ, पैरा;
हमारी मातृभूमि और उसकी महिमा - ५.५, ५.१७९; ५.३५, ५.४३; ५.१७९, ५.६, ८.२५४, ५.३६, ५.१७९; ५.५, ५.१६८; ५.५-६; ५.७८, ५.६; ५.६-७; ५.४९, ५.२५९-६०, ५.५ - उसका जीवन-केन्द्र - ५.४४, ५.११५, ५.११५; ५.४४, ५.११५, ५.४४; ५.११५-१६; ५.११६, ५.४५; ५.७५-७६; ५.११५, ५.१८३, ५.४३, ५.१८३; ५.१८१-१८२; ५.१८२; ५.१८२; ५.१८३; ५.१८३, ५.११५, ४.२६५; ७.२४१

□ (क्रमशः) □

चुगलखोरी का दोष

स्वामी आत्मानन्द

उस दिन मैं अपने मित्र के यहाँ बैठा हुआ था। वे एक उच्च पदस्थ अधिकारी हैं। उनके पास एक सज्जन आये। मैं उनसे परिचित नहीं था। मित्र ने परिचय करा दिया। वार्तालाप के सिलसिले में आगन्तुक ने कहा, "अमुक तो आप पर बड़ा नाराज हो रहा था, क्या बात है?" उत्तर में मित्र बोले, "भला, वे मुझ पर क्यों नाराज होंगे? नाराजगी का तो कारण नहीं होना चाहिए।" आगन्तुक बोले, "वे कह रहे थे – देखो तो, मैंने एक छोटा-सा काम उन्हें दिया, वह भी नहीं कर सके।"

मित्र ने पूछा, "आपसे उन्होंने यह बात कब कही ?"

"अभी कुछ देर पहले ही। उनसे मिलकर ही तो यहाँ आ रहा हूँ।" – आगन्तुक का उत्तर था।

मित्र बोले, "यह भला कैसी बात? मैंने परसों ही उनका काम कर दिया था और शासकीय आदेश स्वयं उनके हाथ दे दिया था। मैं अभी फोन पर पूछता हूँ कि बात क्या है।"

आगन्तुक का चेहरा देखने लायक था। मित्र फोन करने गये और आगन्तुक उठकर चलते बने। फोन करके लौटकर मित्र ने बताया कि आगन्तुक बड़ा झूठा था, जिसका नाम लेकर उसने चुगली की, उसके यहाँ वह कई दिनों से गया ही नहीं है। मित्र को फोन पर यह भी बताया गया कि आगन्तुक बड़ा ही चुगलखोर है और उससे सावधान रहना चाहिए।

यह एक उदाहरण है। ऐसे कितने उदाहरण आपके और हमारे जीवन में भरे पड़े होंगे। चुगली एक रोग है, मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति को तोड़ने में सुख का अनुभव होता है। उसे दो व्यक्तियों का आपसी प्रेम और सद्भाव आँख की किरकिरी मालूम होता है।

चुगली मिथ्या के घोड़े पर चढ़कर कलाबाजी करती है। मनुष्य इस कदर आत्म-प्रशसा-प्रिय होता है कि तनिक-सा कटाक्ष का स्वर, आलोचना की धीमी-सी फुहार भी उसे आहत कर देती है। मैं यदि लेखक हूँ, तो अपने लेख की प्रशसा सुनना चाहता हूँ। यदि कवि हूँ, तो मेरे कान कविता का गुणगान सुनने को आकुल रहेंगे। यदि वक्ता हूँ, तो सदा ही चाहूँगा कि लोग मेरे भाषण की प्रशसा करें। यदि कलाकार हूँ, तो अपनी कला की बड़ाई सुनने की ओर ही मेरा ध्यान बना रहेगा। व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कार्यरत हो, वह अपने कार्य की, कार्य करने के तरीके की प्रशंसा सुनना चाहता है। यह कोई अस्वाभाविक वृत्ति नहीं है। मनुष्य का मन ही ऐसा बना है कि वह आत्मप्रशंसा सुनना चाहता है। चुगली की प्रक्रिया मनुष्य-मन के इसी स्वभाव को लेकर खेलती है और अपना प्रभाव विस्तार करती है। मनुष्य अपनी कमियों की सही आलोचना भी सुनना नहीं चाहता – उसका यह स्वभाव चुगली के पौधे में पानी सींचने का काम करता है, और यही चुगलखोर की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति के जोर पर चुगलखोर हमारे मन को मानो अपने वश में कर लेता है और जैसा वह चाहता है वैसा देखने को हमें विवश करता है। फलस्वरूप हम उसकी बातों में आ जाते हैं और सत्य की पूरी तरह उपेक्षा करते हुए अपने निर्दोष मित्र से कटकर अलग हो जाते हैं। परिवार के स्तर पर, परिवार को तोड़नेवाली सबसे खतरनाक ताकत चुगली की है। ननद चुगली के बल पर भौजाई को उसकी सास से तोड़ देती है। पत्नी इसी के चलते पति को उसकी माँ से अलग कर देती है। बाप और बेटे एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। भाई-भाई एक दूसरे का सिर फोड़ने पर उतारू हो जाते हैं।

तो, क्या इस रोग की दवा नहीं है? है – और रामबाण दवा है। जैसे आयुर्वेद में औषध और उसका अनुपान होता है और दोनों मिलकर ही रोग पर कारगर होते हैं, वैसे ही यह रामबाण दवा अपने अनुपान के साथ काम करती है।

दवा यह है – जिस व्यक्ति के बारे में चुगली की गयी, उससे बिना सकोच के पूछना कि क्या उसने ऐसा कुछ कहा है। और अनुपान यह है कि चुगली करनेवाले के सामने ही यह पूछा जाय। आप अनुभव करेंगे कि रोग एक साथ ही जड़ से मिट गया है।

एक दूसरी दवा से भी चुगली का दंश मिटाया जा सकता है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से किसी ने चुगली करते हुए कहा, "महाशय, अमुक तो आपकी बड़ी निन्दा कर रहा था।" विद्यासागर बोले, "लेकिन भाई, मुझे तो ख्याल नहीं आता कि मैंने उसका कुछ भला किया है, तो फिर वह मुझे क्यों गालियाँ देता है?" चुगली करनेवाला बगलें झाँकने लगा, उससे कोई उत्तर देते न बना।

यह भी चुगली की एक अनुभूत कारगर दवा है। ❑

महानता की अभिव्यक्ति

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार के किसी भी क्षेत्र में, किसी भी काल में, किसी भी एक व्यक्ति ने जो महानता प्राप्त की है आज भी संसार का प्रत्येक व्यक्ति उस महानता को उपलब्ध करने का अधिकारी है। प्रत्येक व्यक्ति में उस महानता को उपलब्ध करने की सामर्थ्य है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि व्यक्ति उन नियमों को जान और समझ ले जिसका पालनकर भूतकाल में किसी व्यक्ति ने वह महानता प्राप्त की थी। वे नियम आज भी सत्य हैं, सक्रिय हैं। उन नियमों का यथावत पालनकर व्यक्ति आज भी उस महानता को प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। उसने मनुष्य को अपने समान ही बनाया है। मनुष्य का निर्माण कर ईश्वर ने मानव-हृदय को ही अपना निवास स्थान बना लिया। इसीलिए गीता में कहा है कि ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विद्यमान हैं।

किन्तु इसका हमारे लिए क्या अर्थ है ? हमारे व्यावहारिक जीवन में इसका क्या उपयोग है ?

इसका अर्थ यह है कि ईश्वर की सारी शक्ति, उसका ईश्वरत्व, मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है। मनुष्य को केवल उसका अनुभव भर करना है। महानता प्राप्ति का यही मूल सूत्र है। महानता प्राप्ति के नियमों में एक नियम यह है कि मनुष्य अपने ईश्वरत्व पर, अपनी असीम शक्ति पर विश्वास करे। अपने ईश्वरत्व पर विश्वास कर मनुष्य जब अपने ही हृदय में विद्यमान ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव कर लेता है तब वह जीवन की सभी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो जाता है। एक बार अपनी इस महान सत्ता का अनुभव कर लेने पर संसार की कोई भी शक्ति मनुष्य को पराजित और असफल नहीं कर सकती।

अपनी इस अन्तर्निहित महानता का अनुभव करने के लिए मनुष्य को सर्वप्रथम यह विश्वास करना होगा कि महानता की प्राप्ति मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे प्राप्त करके ही रहूँगा। यह विश्वास ही अपने आप में एक उपलब्धि है। एक बार ऐसा विश्वास हो जाने पर मनुष्य का जीवन ही बदल जाता है। महानता प्राप्ति के नियमों में एक दूसरा महत्वपूर्ण नियम है जीवन यात्रा में कभी भी पराजय स्वीकार न करना। मनुष्य का जन्म ही विजय प्राप्त करने के लिए हुआ है। उसका जीवन एक विजय यात्रा है। महान यात्रा में यदा-कदा पराजय के पड़ाव भी आते हैं। किन्तु विजय यात्री को इस पड़ाव पर रुकना नहीं है। यदि कभी रुकना भी पड़े तो अवसर आते ही पुनः कमर कसकर अपने विजय अभियान में चल पड़ना है।

इस यात्रा का एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस अभियान में जिस शक्ति और सरंजाम की आवश्यकता होती है वह सब मनुष्य के भीतर ही विद्यमान है। मनुष्य जब एक निष्ठ होकर दृढ़तापूर्वक इन शक्तियों का आह्वान करता है तब वे जाग उठती हैं और एक बार इन शक्तियों के जाग उठने पर बाहर की सभी परिस्थितियाँ उस मनुष्य की सेवा में हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। और तब उस मनुष्य के जीवन का विजय अभियान पूर्ण और सफल हो जाता है। ऐसे मनुष्य ही तो समाज के दीपस्तम्भ होते हैं। समाज इन्हीं महाजनों का तो अनुसरण करता है।

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(पचहत्तरवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। इसकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

ईश्वरकोटि और जीवकोटि का विश्वास

श्रीरामकृष्ण भवनाथ को विश्वास-अविश्वास के बारे में बता रहे हैं, "बात यह है कि जो जीव-कोटि के हैं, उन्हें सहज ही विश्वास नहीं होता । ईश्वर-कोटि के जो हैं, उनका विश्वास स्वत:सिद्ध है ।" मुण्डक उपनिषद् का कहना है कि साक्षात् दर्शन होने पर ही संशय दूर होता है –

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।। २/२/८

– "कार्य और कारण रूपी उस परमात्मा को देख लेने पर उस द्रष्टा की हृदय-ग्रन्थि अर्थात् कामना-वासना आदि दूर हो जाते हैं, सारे संशय छिन्न हो जाते हैं तथा कर्मों का क्षय हो जाता है ।" परन्तु जब तक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो जाता, तब तक अज्ञान थोड़ा भी दूर नहीं होता । इस जगत् को हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, पंचेन्द्रियो के द्वारा पग पग पर उसका अनुभव करते हैं, ऐसी स्थिति में कैसे विश्वास करें कि यह सब मिथ्या है! शास्त्र कहते हैं कि प्रत्यक्ष मिथ्याज्ञान को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष सत्यज्ञान होना चाहिए । अनुमान के द्वारा अथवा किसी से सुनकर ज्ञान नहीं होता, शास्त्र पढ़ने पर भी नहीं होता, उसके लिए प्रत्यक्ष अनुभव की आवश्यकता है । ठाकुर ने भी बारम्बार यह बात कही है ।

विपरीत भाव की बातें सुनकर ठाकुर के मन को बड़ी चोट लगती थी । इसीलिए विपरीत भाव के लोगों को अपने पास रखना उन्हें पसन्द नहीं था । सूक्ष्म हुए मन को विपरीत भाव अत्यन्त पीड़ादायी बोध होता है । इसीलिए हाजरा के विषय में वे माँ से कहते हैं, "या तो इसे समझा दे या यहाँ से हटा दे ।" हृदयराम उनके पास रहना चाहते थे, परन्तु ऐसे ही कारण से वे उन्हें रख नहीं सके । चैतन्य-चरितामृत में भी हम देखते हैं कि विपरीत भाव के लोगों को चैतन्यदेव के पास नहीं जाने दिया जाता था ।

इसके बाद ठाकुर ज्ञान और अज्ञान के सम्बन्ध में कह रहे हैं, "जब तक यह बोध है कि ईश्वर दूर हैं, तब तक अज्ञान है और जब यह बोध है कि ईश्वर यहीं तथा सर्वत्र हैं, तभी ज्ञान है ।" उपनिषद् में है, 'तद्दूरे तद्वन्तिके' – वे दूर भी हैं, वे निकट भी हैं – सर्वत्र वे ही हैं । सर्वव्यापी होने पर भी जब हम उन्हें दूर देखते हैं, तो वह अज्ञान है और जब पास देखते हैं, तो वह ज्ञान है । अर्थात् पास देखने पर वे दूर भी दिखाई देते हैं । एक बात ठाकुर ने यहाँ पर और कही है, "जब यथार्थ ज्ञान होता है तब सब चीजें चेतन जान पड़ती हैं ।" तब जगत् में थोड़ा-सा जड़ और थोड़ा-सा चेतन है – ऐसा पार्थक्य-बोध चला जाता है । सर्वत्र चैतन्य का अनुभव होने लगता है । तो भी साधारण मनुष्य को इस पर विश्वास नहीं होता, वह जड़ तथा चेतन का पार्थक्य अस्वीकार नहीं कर पाता । सरल विश्वासी मन को ही इसकी धारणा होती है । ठाकुर ऐसे ही सरल थे । एक बार किसी कीड़े के काट लेने पर उन्हें लगा कि साँप ने काट लिया है । उन्होंने कहीं सुन रखा था कि साँप के काट लेने पर, यदि वह उसी स्थान पर दुबारा काटे, तो विष उतर जाता है । इसलिए वे दुबारा काटे जाने की आशा में एक गड्ढे में पाँव लटका कर बैठे रहे । उनसे जो कुछ कहा जाता, वे बालक के समान उस पर विश्वास कर लेते । वैसे सरल विश्वास का अर्थ यह नहीं कि उनके मन की जो अवस्था है, उसके प्रतिकूल कुछ कहने पर भी वे उस पर विश्वास कर लेंगे । यदि उनसे कहा जाय कि इस जगत् में चैतन्य जैसा कुछ भी नहीं है, सब जड़ का खेल है, तो इस पर वे विश्वास नहीं करेंगे, क्योंकि वे नित्य-सत्य का प्रतिक्षण सर्वत्र अनुभव कर रहे हैं, अत: इस विषय में उनका विश्वास क्षणभंगुर नहीं, बल्कि दृढ़ है । तथापि साधारण व्यक्ति की बातों से उनके मन में थोड़ी हलचल होती है । इसीलिए नरेन्द्र ने जब कहा – आप हम लोगों से जो प्रेम करते हैं, इससे आपके लिए बन्धन की सृष्टि होगी, तो ठाकुर भयभीत होकर जगदम्बा के पास दौड़ पड़े । माँ ने तत्काल उनकी शंका का समाधान कर दिया – तू उनमें नारायण को देखता है, इसलिए प्रेम करता है; तब वे लौटकर बोले – धत् तेरे की! अब मैं तेरी बात नहीं सुनूँगा । यही है ठाकुर का सहज-सरल विश्वास । ऐसा विश्वास रहे, तो किसी के विपरीत बात भी कहने पर उसका समाधान उनकी अपनी पहुँच में रहता है । अर्थात् भीतर प्रवेश करने से ही हुआ, सारा समाधान वहीं है । सत्य वहाँ चिर-ज्योतिर्मय है, उस पर संशय की काली छाया नहीं पड़ती ।

ईश्वरकोटि का सहज साधन

हाजरा को माला लेकर जप करते देखकर ठाकुर कहते हैं कि वे माला लेकर जप नहीं कर सकते । माला हाथ में लेते ही मन समाधिस्थ हो जाता था, अत: जप भला कैसे करेंगे? यह

प्रत्यक्ष दृष्टान्त है कि जब मन स्वयं ही भगवान के नाम में विभोर हो जाता है, तब विभिन्न उपकरण लेकर साधना करने की आवश्यकता नही होती और सम्भव भी नहीं होता। कहते है, "बाये हाथ से होता है, परन्तु उधर (नाम-जप) फिर नही होता।" जप आरम्भ करते ही भाव में गाम्भीर्य आ जाता है, अत: बारम्बार उच्चारण करके जप करना सम्भव नहीं होता।

हँसी हँसी में भवनाथ ब्रह्मचारी का वेश बनाकर ठाकुर के सामने आए हैं, इसीलिए स्वामीजी विनोदपूर्वक कहते हैं, "वह ब्रह्मचारी बना, तो मैं अब वामाचारी बनूँ।" पर ठाकुर ने यह प्रसंग टालकर दूसरा विषय आरम्भ किया।

ठाकुर के पास एक साधु आए हैं। वे बड़े क्रोधी हैं। ठाकुर उन्हे देखते ही घबड़ाकर हाथ जोड़े खड़े हो गये। दो-एक बात कहकर उनके चले जाने पर भवनाथ हँसते हुए बोले, "साधु पर आपकी कितनी भक्ति है!" ठाकुर कहते हैं, "अरे, तम:प्रधान नारायण है। जिनका यही स्वभाव है, उन्हें ऐसे ही प्रसन्न करना चाहिए।" साधु का वेश त्याग के आदर्श का परिचायक है, अत: उसे सम्मान देने के लिए ही साधु के प्रति भी सम्मान दिखाना पड़ता है।"

गोलोक धाम का खेल हो रहा है। ठाकुर कह रहे हैं, "जो लोग हृदय से भगवान को पुकारते हैं, उनसे खेल में भी गल्ती नहीं होती। ईश्वर की इच्छा ऐसी भी होती है कि वे भले आदमी का कभी कहीं अपमान नहीं होने देते।"

मातृभाव श्रेष्ठभाव

कर्ताभजा, नवरसिक आदि सम्प्रदायों की बात उठने पर ठाकुर बोले, "मेरा मातृभाव है, सन्तान-भाव। मातृभाव बड़ा शुद्ध भाव है। इसमें कोई विपत्ति नहीं है।" भगवान पर अलग अलग भावों का आरोप किया जाता है। कहीं कहीं उन्हें माँ या पत्नी के रूप में और कहीं सखी या सन्तान के रूप में देखने की बात आयी है। इन भावों का भगवान पर आरोप करना चाहिए, ये उन्हें पाने के उपाय हैं; पर ये आरोप करते समय मनुष्य का मन प्राकृतिक सुख में मग्न होकर भगवान को भूल जाता है। इसलिए कहते हैं – ये सब गन्दे मार्ग है, मातृभाव बड़ा शुद्ध भाव है। जब तक अहंभाव है, तब तक उनका माता-पिता के समान स्मरण करना चाहिए।

सोऽहं

ठाकुर अपने घनिष्ठ भक्तों से एकान्त में कहते हैं – "अब मैंने यही समझा है कि वे पूर्ण हैं और मैं उनका अंश हूँ, वे प्रभु हैं और मैं उनका दास हूँ। कभी यह भी सोचता हूँ कि 'वही' 'मैं' है और 'मैं' ही 'वह' हूँ!" ये जो उन्होंने तीन प्रकार की बातें कहीं – पूर्ण तथा अंश, प्रभु तथा दास और सोऽहं – ये तीनों उन्हीं के भाव हैं, पर वे कब, कौन-सा भाव, किसके समक्ष प्रकट करेंगे – यह इस बात पर निर्भर है कि भक्त कैसा अधिकारी है। वैसे 'सोऽहं' बड़ा उच्च भाव है। 'अहं' के रहते इस भाव को पकड़े रखना कठिन है। इसीलिए ठाकुर कह रहे हैं – स्वयं को भगवान का दास, उनकी सन्तान समझना, तो फिर पतन के किसी भय की आशंका नहीं रहेगी।

भवनाथ ने यहाँ एक और आवश्यक बात उठाई। वे बोले, "लोगों से मतान्तर होने पर मन न जाने कैसा करने लगता है। इससे यह याद आता है कि सबको मैं प्यार नहीं कर सका।" उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "चेष्टा करने पर भी यदि न हो, तो फिर इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जो मन ईश्वर को देना है, उसका इधर-उधर व्यर्थ खर्च करोगे?" भगवान से प्रेम करना अन्तिम बात है। उन्हें पा लेने से सबको पाना हो जाएगा। पर देखना होगा कि किसी के साथ विरोध न हो। असल बात को याद रखना हैं कि मन एक ही है और वह उन्हें ही देना है; उसका फालतू खर्च न किया जाय।

इसके बाद ठाकुर अपनी साधना के बारे में बताते हैं – रुपया मिट्टी, मिट्टी रुपया कहकर गंगा में फेंक दिया था। "पीछे से डरा कि लक्ष्मीजी को कही क्रोध न आ जाय। लक्ष्मी के ऐश्वर्य की मैंने अवज्ञा की, यदि वे मेरी खुराक बन्द कर दें तो? तब कहा – माँ, बस तुम्हें चाहता हूँ और कुछ नहीं।" भवनाथ कहते हैं, "यह तो चालबाजी है।" ठाकुर हँसते हुए बोले, "हाँ, उतनी चालबाजी है।" फिर दृष्टान्त देते हैं – एक भक्त ने वर माँगा था कि नाती के साथ बैठकर सोने की थाली में खाऊँ। एक ही वर में ऐश्वर्य पुत्र, पौत्र – सब माँग लिया।

कामना रहते, 'तुम्हें चाहता हूँ' – कहना कठिन है

साधारण मनुष्य अपने मन में जो चाहता है, वही भगवान से माँगता है। कुछ लोग कहते हैं – मैं केवल भगवान को ही चाहता हूँ, दूसरा कुछ नहीं चाहता; परन्तु यह केवल कहने की बात है। हृदय से ऐसा सोचना बहुत कठिन है। मन के भीतर हजारों कामनाएँ भरी पड़ी हैं। यदि कोई जानता हो कि माँगने से यह सब जरूर मिलेगा, तो क्या वह बिना माँगे रह सकेगा? जो लोग कहते हैं कि मैं उनसे कुछ नहीं चाहता, तो उनके बारे में समझ लेना होगा कि उन्हें सन्देह है कि माँगने पर क्या सचमुच ही मिल जायगा। कामनाएँ दूर हुए बिना उन्हें चाहा नहीं जा सकता। उन्हें जो चाहेगा, उसे संसार की किसी वस्तु के प्रति जरा भी आसक्ति नहीं रहेगी। ऐसी अवस्था हुई है क्या? मनुष्य नाना प्रकार के बन्धनों में जकड़ा हुआ है और कहता है – मैं उन्हें छोड़ अन्य कुछ नहीं चाहता। इसे इतना आसान समझ लेने से काम नहीं चलेगा। उन्हें चाहने के लिए मन में सैकड़ों विपत्तियों को झेलने की शक्ति होनी चाहिए। उनको चाहने का अर्थ यदि सर्वस्व खो देना हो, तब भला कितने लोग उन्हें चाहेंगे? इसीलिए 'उन्हें चाहता हूँ' – कहना आसान है, पर हृदय में इस भाव का पोषण करना बड़ा कठिन है। तो भी मन को यह समझाना अच्छा है कि उन्हें छोड़कर

अन्य कुछ चाहना उचित नहीं । ऐसा सोचते सोचते सम्भव है कि मन एक दिन केवल उन्हीं को चाहने लगे । जो केवल ऊपरी तौर से खूब भक्त हैं, उनके लिए भी यही बात है । क्योंकि यदि भगवान को चाहने का परिणाम सर्वनाश के रूप में सामने आए, तो क्या वे भी इसे सह सकेंगे? हाजरा का कहना था – ईश्वर सर्व ऐश्वर्यशाली हैं, वे क्या केवल भक्ति और मुक्ति देते हैं? वे ऐश्वर्य भी देते हैं । इस पर श्रीरामकृष्ण कहते हैं – उसका ऐश्वर्य से लगाव है, इसलिए वह इसी प्रकार के भगवान से प्रेम करता है । यह उसके मन की स्वाभाविक गति है, इस कारण उसे दोष देने की जरूरत नहीं । परन्तु यह स्मरण रखना होगा कि जो व्यक्ति केवल भगवान को चाहता है, उसकी किसी अन्य वस्तु में आसक्ति हो ही नहीं सकती और उसकी भगवद्भक्ति भी तीव्र वैराग्य के माध्यम से व्यक्त होती है । ऐसे चरम त्याग-वैराग्य का दृष्टान्त हमें सनातन गोस्वामी के जीवन में दीख पड़ता है, जिसका उल्लेख अन्यत्र हुआ है । साधारण मनुष्यों के मन में हजारों कामनाएँ रहती हैं और वह सब यदि वह भगवान से नहीं, तो किससे माँगेगा? तो भी उन्हें पाने की इच्छा ही श्रेष्ठ आदर्श है । हमें बस इतना ही स्मरण रखना होगा कि अनुसरण करना कठिन होने पर भी इस आदर्श को सामने रखना अच्छा है ।

योगक्षेमं वहाम्यहम्

प्रताप हाजरा के बारे में बात हो रही है । ठाकुर कहते हैं – "हाजरा कुछ रुपये चाहता है, घर में ऋण है, इसीलिए जप और ध्यान करता है, कहता है, ईश्वर रुपये देंगे ।" ठाकुर का भाव यह है कि जप-ध्यान के साथ रुपयों का सम्बन्ध रखना उचित नहीं है । एक भक्त कहते हैं, "वे क्या मनोरथ की पूर्ति नहीं कर सकते?" उत्तर में ठाकुर कहते हैं, "उनकी इच्छा ! परन्तु प्रेमोन्माद के हुए बिना वे सम्पूर्ण भार नहीं लेते ।" गीता में भगवान कहते हैं –

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। ९/२२

– "जो लोग अनन्यचित्त होकर निरन्तर चिन्तन के द्वारा मेरी उपासना करते हैं, ऐसे मुझसे नित्ययुक्त भक्तों का सारा योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।" योगक्षेम शब्द का अर्थ करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है – 'योग' का अर्थ है अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति – जो नहीं है, वह दे देते हैं और 'क्षेम' का अर्थ है प्राप्त वस्तु की रक्षा – जो है उसकी रक्षा करते हैं । इस प्रकार वे भक्तों का योगक्षेम वहन करते हैं ।

इस सन्दर्भ में कवि जयदेव के जीवन की एक लोकविश्रुत घटना स्मरणीय है । वहाँ देखा गया कि भगवान न केवल देते हैं, बल्कि भक्त की चीज को अपने सिर पर लाकर पहुँचा जाते है । वे भक्त का भार लेते हैं, पर उन पर पूर्ण निर्भरता न आने और तीव्र वैराग्य न होने तक संसार के कर्तव्य आदि रहते हैं । इस विषय में मीमांसा-दर्शन में सूक्ष्म विचार हुआ है । उनके मतानुसार शास्त्र ने ही मनुष्य को कर्तव्य-बन्धन में ऐसा बाँध रखा है कि उसे क्षण भर के लिए भी अवकाश नहीं है, स्वाधीनता नहीं है । सुबह से रात तक की उसकी दिनचर्या पूर्णतः नियम से बँधी हुई है । यह सब करते करते मनुष्य हाँफ उठता है । अब प्रश्न उठता है कि कर्तव्य के बन्धन से मनुष्य कब मुक्त होगा? उत्तर में मीमांसक कहते हैं कि यदि कोई किसी विशेष कारण से कर्तव्य-पालन में असमर्थ हो, तो उसे छुटकारा मिल सकता है । जैसे यदि कोई अँधा, गूँगा, बहरा या पंगु हो, तो यह विधि उस पर लागू नहीं होगी । जब भी कोई विधान किया जाता है, तो उससे यही अनुमान होता है कि जो करने में समर्थ हो, शास्त्र उन्हीं से करने को कहते हैं । यह दायित्व उन्हीं पर लागू होता है, जो उनका अनुष्ठान कर सकते हैं । इसी को अधिकारवाद कहते हैं – जो अधिकारी हैं, वे ही करेंगे । अब प्रश्न उठता है कि जो अन्धे या पंगु नहीं है, ऐसे समर्थ लोग जब सांसारिक कर्तव्यों की उपेक्षा कर संन्यासी हो जाते हैं, तो उनके द्वारा कर्तव्य-लंघन पाप है या नहीं? मीमांसकों के मतानुसार पाप है, क्योंकि वे समर्थ होते हुए भी नहीं करते, अतः यह उनकी कर्तव्य-च्युति हुई । अतः मीमांसकों के मतानुसार सक्षम व्यक्ति का संन्यास लेना अनुचित है ।

फिर संन्यास के समर्थक शंकर आदि अद्वैतवादी कहते हैं कि मीमांसकों के मत में यह जो कहा जाता है कि सक्षम लोगों के लिए ही यह विधान है, हमारा भी यही कहना है । जो लोग इन विधानों के परे जाने को व्याकुल हैं, उनकी कर्म करने की क्षमता समाप्त हो चुकी है । अतः उन्हें अब इस कर्म-बन्धन के दायरे में नहीं लाया जा सकता । दो उपाय बताये गये हैं – एक तो यह कि जब कोई भगवान के लिए अत्यन्त व्याकुल हो, तब ये विधियाँ उस पर लागू नहीं होतीं और दूसरा यह कि जिसने यह समझ लिया है कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ', उसके लिए 'तुम करो' कहने में कोई सार्थकता नहीं है । अतः शास्त्रकार कहते हैं कि जब वैराग्य तीव्र होगा, तो संसार-बन्धन उसे बाँध नहीं सकेगा । तथापि वैराग्य सच्चा होना चाहिए, मर्कट वैराग्य से काम नहीं चलेगा । इस मर्कट वैराग्य का दृष्टान्त ठाकुर ने दिया है – कुछ काम-काज न मिलने पर, एक व्यक्ति वैरागी होकर घर छोड़कर चला गया । थोड़े दिनों बाद उसने वाराणसी से लिखा, "मैं यहाँ आ गया हूँ, तुम लोग चिन्ता न करना, यहाँ मुझे एक काम भी मिल गया है । ऐसा वैराग्य होने से काम नहीं होगा । या फिर जो ज्ञानी है, स्वयं को अकर्ता समझता है, उसके लिए भी कर्म का बन्धन नहीं हो सकता । गीता में यही बात कही गई है – जो अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं अर्थात् ईश्वर को छोड़ अन्य कुछ सोच ही नहीं पाते, उनका कोई कर्तव्य नहीं है । जैसा कि रामप्रसाद के जीवन में है । वे जमींदार के यहाँ नौकरी करते थे । माँ के नाम

में वे इतने विभोर रहते कि हिसाब के खाते में उन्होंने काली के – 'माँ, मुझे अपनी नौकरी में रख ले' – आदि भजन लिख डाले थे । जमींदार ने उन्हें सेवा से अवकाश देकर पेंशन की व्यवस्था कर दी । अभिप्राय यह है कि यदि कोई भगवान के नाम पर पागल हो जाय, तो वे उसे कर्म से छुटकारा दे देते हैं । तब उस पर कर्तव्य का भार नहीं रह जाता । परन्तु जब तक ऐसी अवस्था न हो, तब तक कर्तव्य छोड़ना गल्ती होगी । ठाकुर भी यहाँ पर हाजरा की बात पर कहते हैं – माँ भूखो मर रही है, बच्चे गरीबी में दिन काट रहे हैं, वे अपने पिता से घर आने को विनती कर रहे हैं, तो भी हाजरा घर जाना नहीं चाहता । ठाकुर कहते हैं कि मन में उतना तीव्र वैराग्य नहीं है, तो भी हाजरा संसार का दायित्व नहीं निभाना चाहता । इससे उनके कर्तव्य की हानि हो रही है । पर उन्होंने स्वामीजी से कभी नहीं कहा कि कमाकर संसार चलाओ । कारण यह था कि स्वामीजी का मन ईश्वर के लिए इतना व्याकुल था कि वे अपना कर्तव्य करने की चेष्टा करने पर भी, माँ तथा भाई-बहनों के कष्ट देखकर बड़ा दुख हो रहा है, तथापि काम नहीं कर पा रहे हैं । इसलिए ठाकुर स्वामीजी को रिहाई दे रहे हैं । उन्होंने स्वामीजी के लिए माँ से प्रार्थना की, कहा – माँ की इच्छा से तुम लोगों को मोटे अन्न और मोटे वस्त्र की कमी नहीं होगी । पर दूसरों के लिए वे यह बात नहीं कहते, क्योंकि वे स्वयं ही जीवकोपार्जन कर सकते हैं । कुछ लोग कहते हैं – वे ही देखेंगे । यह बात कितनी कठिन है, इसकी लोग सर्वदा कल्पना नहीं कर पाते । ईश्वर तभी हमारा भार लेंगे, जब हम स्वयं कुछ नहीं कर सकेंगे । पर हम लोग कर्तव्य-बोध से मुक्त नहीं हो सकते । मुँह से हम चाहे जितना कहें कि जो होने का है सो हो, वे देखेंगे; परन्तु मन छटपटाता रहता है । अत: यह बात विशेष रूप से याद रखने की है कि उन पर पूरी तौर से निर्भरशील न होने तक कर्तव्य का भार वहन करना होगा ।

कर्तव्य और साधना

इस प्रसंग में ठाकुर माता-पिता के कर्तव्य के बारे में भी कहते है, "माँ क्या छोटी-मोटी चीज है?" ठाकुर ने वृन्दावन में रहने का निश्चय कर लिया था, तभी उन्हें माँ की याद आई और तत्काल सब बदल गया । उन्हें वहाँ से कलकत्ते लौट आना पड़ा । वे कहते हैं – माँ की ऐसी महिमा है कि चैतन्य-देव ने संसार त्यागने के पूर्व माँ को कितने तरह से समझाया था । कहा था, 'यदि मुझे संसार में रखोगी, तो शरीर न रह जायगा ।' इस प्रकार उन्होने माँ की अनुमति ली । अनुमति लिए बिना जा नहीं पा रहे थे । यह बात एक अन्य दृष्टि से बड़ा गहरा अर्थ रखती है । अवतार जिस उद्देश्य के साथ आते हैं, उसी उद्देश्य में उनके शरीर की सारी शक्तियाँ नियोजित होती है, अन्य किसी तरह से उनके शरीर का उपयोग नहीं होता । हरिनाम-वितरण का जो उद्देश्य लेकर चैतन्यदेव ने अवतार लिया था, वह उनके संसार में रहने से पूरा नहीं होता । इसीलिए कहते हैं – शरीर नहीं रहेगा । माँ से अनुमति लेने का ऐसा ही दृष्टान्त शंकराचार्य के जीवन में भी है ।

तात्पर्य यह कि माता-पिता नि:सन्देह बड़े पूज्य हैं, परन्तु जरूरत पड़ने पर उनका भी त्याग करना पड़ता है । शास्त्र का यही सिद्धान्त है । चैतन्यदेव या शंकराचार्य यदि माँ की सेवा करने के लिए संसार में रह जाते, तो फिर जगत् में जो कार्य उन्होंने किये, उन्हें कौन करता? अत: महामाया जिनके द्वारा अपना विशेष कार्य सिद्ध कराना चाहती है, उन्हें वे अन्य दायित्वों से मुक्त कर देती हैं । संसार के दायित्वों से स्वेच्छापूर्वक पुत्र को छुटकारा दे दें, ऐसे माँ-बाप विरल हैं । शास्त्र में कहा है कि यदि कोई संन्यासी का आदर्श लेकर संसार छोड़ता है, तो उसके द्वारा संसार का कल्याण ही होता है – **कुलं पवित्रं जननी कृतार्था** – उनका वंश पवित्र होता है और उनकी गर्भधारिणी माँ कृतार्थ हो जाती है । इस प्रकार संसार-त्याग किए बिना बुद्धदेव या शंकर, चैतन्यदेव या श्रीरामकृष्ण कहाँ से आते? अत: स्मरण रखना होगा कि मनुष्य का संसार के प्रति कुछ दायित्व कर्तव्य जरूर है, परन्तु जब एक बृहत्तर दायित्व का आह्वान आता है, तब वह क्षुद्र सीमा के भीतर आबद्ध नहीं रह सकता । परन्तु उस आह्वान का वह ठीक ठीक हृदय से बोध कर रहा है या नहीं, यह उसे ठीक से परीक्षा करके देख लेनी होगी । केवल झंझटों से बचने हेतु बहाना करके संसार-त्याग करने पर कर्तव्य की अवहेलना होती है ।

इस विषय में एक बात और है । मनुष्य परम्परागत रूप से जिस पथ पर चलता है, उससे अलग कुछ देखते ही वह सहम जाता है । इसीलिए स्वेच्छा से कोई अपने पुत्र को छोड़ना नहीं चाहता । पर यदि कोई भी माँ-बाप अपने पुत्र को न छोड़ें, तो देशरक्षा के लिए जिस विशाल सेना की जरूरत होती है, वह कहाँ से आएगी? मनुष्य इन बातों का विचार-विश्लेषण नहीं करता । असल में हर व्यक्ति इस तरह बचकर चलना चाहता है कि उसे चोट न लगे । कई बार वह मुख से संन्यास-धर्म की प्रशंसा करता है, सेवा को बहुत अच्छा कार्य और बड़ा आदर्श आदि बताता है, परन्तु ज्योंही कहा जाता है कि आप अपने पुत्र को देंगे क्या? त्योंही वह बगलें झाँकने लगता है । इतनी बड़ाई, इतनी प्रशंसा सब न जाने कहाँ उड़ जाती है? वैसे इसके विपरीत उदाहरण भी देखने में आते हैं । कुछ माँ-बाप तो स्वयं ही अपनी सन्तान को संन्यास के मार्ग पर चलने को प्रोत्साहित करते हैं । पर ऐसे दृष्टान्त आज भी विरल है ।

परिवेश विशुद्धिकरण – नाम गुणगान

इसके बाद ठाकुर कह रहे हैं, "आज घोषपाड़ा-फोसपाड़ा की कैसी सब वाहियात बातें हुईं । गोविन्द! गोविन्द! गोविन्द!

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

मानस-रोग (३६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस' के वर्तमान प्रकरण पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके छत्तीसवें प्रवचन का पूवार्ध है। टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापन करते हैं। - सं०)

'मानस' में रामकथा का समापन सात प्रश्नों तथा उनके उत्तरों के साथ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि राम-कथा के अन्त में आये ये कुछ प्रश्न बड़े महत्वपूर्ण हैं और गहराई से हमारे-आपके जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। राम-कथा में रसानुभूति है, बड़ा दिव्य स्वाद है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसे रामकथा प्रिय न लगती हो। पर इतना होते हुए भी यदि रामकथा सुनकर हमारे-आपके मन में केवल मधुरता की अनुभूति हो औरं कुछ भावुकता उमड़ पड़े, तो केवल इतने में ही रामकथा की सार्थकता नहीं हो सकती, क्योंकि यह एक क्षणिक भावुकता है। ऐसी भावुकता हमारे-आपके जीवन में कई बार आती है और चली जाती है। राम-कथा की सार्थकता तो तब है, जब उससे हमारी भावभूमि में स्वस्थता आ जाय। जैसे भोजन करते समय स्वाद की अनुभूति होती है, परन्तु केवल वही भोजन की पूर्ण सार्थकता नहीं है। स्वाद का भी महत्व है, परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य तो तब शुरु होता है, जब भोजन पेट में जाता है, उसका परिपाक होता है, वह रक्त के रूप में परिणत होता है और शरीर को उससे शक्ति एवं स्वस्थता प्राप्त होती है। भोजन् के प्रारम्भ में तृप्ति की अनुभूति होती है और अन्त में स्वस्थता की। इसी तरह रामकथा में जो माधुर्य है, वह हमें बड़ा प्रिय लगता है, परन्तु उससे केवल हमारा मनोरजन या क्षणिक भाव का उद्रेक हो, तो यह रामकथा की पूर्ण सार्थकता नहीं है। उसकी सार्थकता तो तब है, जब वह चित्त में उतर जाय, उसका परिपाक हो, उसका रस हमारे चरित्र में रक्त की तरह दौड़ने लगे और हमें शक्ति और स्वस्थता की अनुभूति हो। जैसे कई लोग भोजन में स्वाद को ही सबसे अधिक महत्व देते हैं, उसी तरह बहुधा लोग रामकथा को मन की भूमि पर मनोरंजन के उद्देश्य से ही सुनते हैं। गोस्वामीजी ने लिखा है –

बिषइन्ह कहँ पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७/५३/४

विषयी व्यक्ति रामकथा को केवल मनोरजन के उद्देश्य से सुनते हैं। उनके लिए रामकथा केवल कान और मन का विषय होता है। रामकथा सुनकर मन को एक प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है, रसानुभूति होती है। यह विषयी व्यक्ति की वृत्ति है। लेकिन विषयी को साधक और साधक को सिद्ध बना देना ही रामकथा की सच्ची सार्थकता है।

रामचरितमानस में रामकथा के अन्त में सात प्रश्नों का तात्पर्य यही है कि कथा सुनने के पश्चात् इस कसौटी के आधार पर हम स्वयं को देखें कि इसका फल हमें मिल रहा है या नहीं। जैसे भोजन की सार्थकता है – व्यक्ति की स्वस्थता में। भोजन के बाद भी यदि व्यक्ति को शक्ति और स्वस्थता प्राप्त न हो रहा हो, तो प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या भोजन में कोई कमी रह गयी या फिर व्यक्ति में ही पचाने की शक्ति नहीं है? ठीक इसी प्रकार से रामकथा सुनने के बाद ऐसा ही प्रश्न उठना स्वाभाविक है, जिसे 'मानस' में रामकथा के बाद उठाया गया। मानस-रोग और उसके निदान का उद्देश्य हमें यह दिखाना है कि रामकथा सुनकर हम स्वस्थ हुए या नहीं। यदि हमारे अन्तःकरण में रामकथा से स्वाद और तृप्ति के साथ ही स्वस्थता की भी अनुभूति हो, तो समझ लेना चाहिए कि रामकथा सार्थक है और यदि केवल स्वाद की अनुभूति हो, परन्तु मन की बीमारी दूर न हो, तो समझ लेना चाहिए कि या तो हममें रामकथा को पचाने की क्षमता नहीं है या फिर रामकथा को ही केवल मनोरजन के उद्देश्य से परोसा गया है। कंई बार तो भोजन का उद्देश्य केवल स्वाद होता है और उसी उद्देश्य से भोजन परोसा भी जाता है। कभी कभी तो यह स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद भी होता है। इसी तरह कई बार रामकथा केवल मनोरंजन के उद्देश्य से कही जाती है, परन्तु वह सही अर्थों में उसकी सार्थकता नहीं है। मानस-रोगों के वर्णन का उद्देश्य यही है कि इसके माध्यम से हम देख सकें कि हमारा मन कितना स्वस्थ हुआ है।

जैसे शरीर के सन्दर्भ में यह सत्य है कि व्यक्ति स्वस्थता के लिए सजग रहे उसी तरह मन के सन्दर्भ में यह और भी अधिक सत्य है कि व्यक्ति सदा अपने मन की परीक्षा करता रहे। इस सन्दर्भ में भरतजी का चरित्र विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। यद्यपि विभिन्न पात्रों के माध्यम से 'मानस' में साधना का तत्त्व प्रकट किया गया है, परन्तु जिस रोग की चर्चा अभी चल

रही है उसके सन्दर्भ में सर्वाधिक विस्तृत चर्चा यदि किसी चरित्र के माधयम से की गई है, तो वह है श्रीभरत का चरित्र। भरतजी के चरित्र में एक बड़ी सुन्दर बात आती है कि जब वे चित्रकूट से लौटकर अयोध्या आए, तो पूछा गया कि चौदह वर्ष तक अयोध्या में भरतजी क्या करते रहे? कहा कि राज्य की सेवा करते रहे, कर्तव्यों का पालन करते रहे, तपस्या करते रहे। क्यों तपस्या करते रहे, उन्हें तपस्या करने की क्या आवश्यकता थी? इसके उत्तर में गोस्वामीजी ने एक बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र दिया है –

लखन राम सिय कानन बसहीं।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥ २/२६/२

जैसे सोने को कसौटी पर कसकर उसके खरे-खोटेपन को देखा जाता है, उसी तरह भरतजी चौदह वर्ष तक निरन्तर अपने मन और शरीर को तपस्या की कसौटी पर कसकर देखते रहे। क्यों? सराफ तो सोने को एक बार कसकर देखता है और निष्कर्ष पर पहुँचकर उसे रख देता है, बार बार कसकर नहीं देखता। इसका तात्पर्य यह है कि मन में और सोने में एक अन्तर है। सोना एक बार कसने पर खरा निकला तो उसे रख देने पर वह खरा ही रहता है, पड़े पड़े उसमें खोटापन नहीं आता, परन्तु मन शुद्ध होने पर भी कुछ कहा नहीं जा सकता कि उसमें कब अशुद्धि आ जाय। इसलिए भरतजी अपने मन को नित्य परखते रहते हैं। जीवन भर अपने मन को साधना और तपस्या की कसौटी पर कसकर देखते रहना चाहिए कि कहीं उसमें कोई विकृति तो नहीं आ रही है। गोस्वामीजी इतने बड़े सन्त थे, परन्तु मन को परखने की यह वृत्ति उनके जीवन में अन्त तक बनी रही। जब वे वृद्ध हो गये तो कानों से कम सुनाई देने लगा; नेत्रों से कम दिखाई देने लगा। यह तो शरीर का धर्म है, परन्तु शिष्यों के मन में तो उनसे बड़ा प्रेम था। बार बार उनसे अनुरोध करते हैं कि किसी वैद्य को बुलावें, जो आपके रोग की चिकित्सा करे। तब गोस्वामीजी ने शिष्यों का आग्रह देखकर बड़ी मीठी बात कही। उन्होंने कहा – आप लोग वैद्य को बुलाना चाहें तो बुला लीजिए, मैं भी चाहता हूँ, लेकिन अन्तर केवल इतना ही है कि आप लोग वैद्य से मेरे शरीर की चिकित्सा कराना चाहते हैं, परन्तु मैं चाहता हूँ कि आप कोई ऐसा वैद्य ढूँढ़कर लाएँ, जो केवल शरीर की नहीं, बल्कि मेरे मन की नाड़ी देखे –

श्रवन घटहुँ पुनि दृग घटहुँ घटउ सकल बल देह।
इते घटें घटिहैं कहा जौं न घटै हरि नेह॥ दोहा., ५६३

वैद्य हमारा मन देखकर बता दे कि वृद्धावस्था में कहीं भगवान से हमारा प्रेम तो नहीं घट रहा है। शरीर की क्षीणता के साथ साथ प्रेम में भी क्षीणता तो नहीं आ रही है। भरतजी के सन्दर्भ में तो गोस्वामीजी कहते हैं कि शरीर से तो वे क्षीण हो रहे हैं, पर प्रेम की दृष्टि से बड़े हृष्ट-पुष्ट होते जा रहे हैं –

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई।
घटइ तेजु बलु मुखछबि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥ २/३२५/१-२

देह दिन-पर-दिन दुबला हो रहा है, पर श्रीराम के प्रति प्रेम नित्य बढ़ता जा रहा है। वे राम-प्रेम में लीन होते जा रहे हैं। इसीलिए बड़ी मीठी बात आती है कि श्रीराम जब लका से लौट आए, तो भरतजी ने उनके चरणों में प्रणाम किया –

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।
नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज। ७/५/६

उसके बाद उन्होंने एक बड़ी मीठी रसभरी बात कही –

परे भूमि नहिं उठत उठाए। ७/५/७

भगवान श्रीराम भरतजी को उठाना चाहते हैं, परन्तु उठा नहीं पा रहे हैं। बात कुछ उलटी-सी हो गई। चित्रकूट में जब श्रीभरत आए थे, तो वहाँ पर भी भगवान राम ने भरतजी को उठाया था और आज चौदह वर्ष बाद फिर उठा रहे हैं, परन्तु उठा नहीं पा रहे हैं। भाई, नियम तो यह है कि अगर किसी का शरीर भारी हो तो उसको उठाने में कठिनाई होगी, परन्तु यदि कोई दुबला व्यक्ति और भी दुबला हो गया हो, तो उसे उठाने में कठिनाई नहीं होगी। इस दृष्टि से अगर विचार करके देखा जाय, तो श्री भरत जब चित्रकूट गये थे उस समय उनका शरीर जितना दुबला था, चौदह वर्ष बाद तो वे और भी दुबले हो गये थे, परन्तु चित्रकूट में भरतजी को उठाने में भगवान राम को कठिनाई नहीं हुई। वहाँ पर गोस्वामीजी ने कहा –

बरबस लिए उठाइ। २/२४०

और यहाँ कहते हैं –

परे भूमि नहिं उठत उठाए। ७/५/७

क्यों नहीं उठ पा रहे हैं? यह भावभूमि की भिन्नता है इसलिए तुलना की दृष्टि भी भिन्न है। श्रीभरत भूमि पर पड़े हुए हैं। किस भूमि पर पड़े हुए हैं? दैन्य-भाव वाले भक्त की भाव-भूमि पर पड़े हुए हैं। इसी दैन्यभाव को दृष्टिगत रखकर गोस्वामीजी ने विनय पत्रिका में कहा –

स्वामीकी सेवक-हितता सब,
कछु निज साइँ-द्रोहाई।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ
मेरेहि दिसि गरुआई॥ विनय. १७१/६

– प्रभु, आपकी कृपा महान है, उसकी महिमा की सीमा नहीं है। लेकिन तराजू पर एक ओर आपकी कृपा को रख दी जाय और दूसरी ओर मेरे स्वामीद्रोह और कृतघ्नता को, तो क्षमा

करें महाराज, मैंने अपनी बुद्धि की तुला में तौलकर देख लिया है कि मेरा पल्ला ही भारी है।

गोस्वामीजी ने बड़ी अद्भुत बात कह दी। बोले – आप चाहे जितनी कृपा करें, परन्तु उस कृपा की तुलना में जीव की कृतघ्नता ही भारी पड़ेगी। उन्होंने तो दावा किया कि मैंने बुद्धि की तराजू पर तौलकर देख लिया कि मेरा पलड़ा ही भारी है। इसका अभिप्राय क्या है? बड़ा सांकेतक तत्त्व है। जब कोई वस्तु तराजू पर तौली जाती है, तो एक ओर वह वस्तु और दूसरी ओर बॉट रखे जाते हैं। बॉट भारी होने पर वस्तु का पलड़ा ऊपर उठ जाता है। गोस्वामीजी ने कहा – प्रभो, आपकी कृपा का बॉट अगर भारी होता तो मैं ऊपर उठ जाता, लेकिन मैं तो इतना भारी हूँ कि आपकी इतनी कृपा के बाद भी मैं नीचे-का-नीचे रहा। आपकी कृपा की तुलना में जीव की कृतघ्नता ही भारी पड़ गई। यह एक भक्त के दैन्य की भाषा है। बिहारी ने भी भगवान से कह दिया था – महाराज, आपने बहुतों को तार दिया होगा, लेकिन मुझे तारना आपके लिए सहज नहीं होगा –

हठ न करौ अति कठिन है मोहि तारिबो गोपाल।

अब एक ओर तो भगवान की अद्भुत कृपा है और दूसरी ओर जीव की कृतघ्नता। यदि जीव के दोष देखें, तो लगता है कि भगवान की कृपा भी उसके उद्धार के लिए पर्याप्त नहीं है। इसका अभिप्राय क्या है? यहीं पर गोस्वामीजी की चतुराई है। तब प्रभु ने उनसे पूछा कि तुम कहना क्या चाहते हो? तो गोस्वामीजी बोले – महाराज, मैं यह कहना चाहता हूँ कि तराजू में अगर मेरा पलड़ा न उठे, तो उसमें आप अपनी कृपा के कुछ और बॉट चढ़ाइए। कृपा इतनी बढ़े कि मैं ऊपर उठ जाऊँ। तभी ठीक होगा, अन्यथा यही कहा जायगा कि आप भी मुझे नहीं तौल पाए। श्रीभरतजी में तो दैन्य की पराकाष्ठा थी। जब वे स्वयं की ओर देखते, तो उन्हें लगता – भगवान अगर मेरे कार्यों की ओर दृष्टि डालेंगे तो करोड़ों कल्पों तक मेरा निस्तार नहीं होगा –

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥ ७/१/५

वे ऐसा क्यों कहते हैं? श्रीभरत की दृष्टि इस ओर तो जाती ही है कि भगवान राम को मेरे ही कारण वन जाकर कष्ट उठाना पड़ा। साथ ही वे अपने जीवन की उस घटना को चाहकर भी नहीं भूल पाते, जब उन्होंने हनुमान के ऊपर बाण का प्रहार करके उन्हें अयोध्या में गिरा दिया था। श्रीभरत के मन में इसके लिए इतना दु:ख, इतना पश्चात्ताप है कि जब उनको इसकी याद आती है, तो वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं कि भगवान श्रीराघवेन्द्र ने इस घटना को यदि मेरे अपराध की दृष्टि से देखा, तो परिणाम क्या होगा? परिणाम वही होगा, जो रावण और मेघनाद के जीवन में हुआ। मैं भी वैसा ही अपराधी हूँ, प्रभु मेरा भी उसी तरह वध कर देंगे। मेघनाद ने भगवान राम के प्रिय भाई लक्ष्मण को मूर्छित कर दिया तो मैंने उनके सबसे प्रिय सेवक को मूर्छित कर दिया। भला मुझमें और मेघनाद में अन्तर क्या है? और केवल मेघनाद ही क्यों जब हनुमानजी लक्ष्मण के लिए औषधि लेने जा रहे थे, तो रावण ने कालनेमि को भेजककर उसमें बाधा डालने की चेष्टा की थी, परन्तु सफल नहीं हुआ, परन्तु मैंने जब हनुमानजी को बाण मारकर गिरा दिया, तो मैं भी तो वही कर रहा था जो रावण ने किया। मैंने तो दवा लेकर जाते हुए हनुमानजी पर प्रहार करके ऐसे दो भक्तों को संकट में डालने की चेष्टा की, जो प्रभु को प्राणों के समान प्रिय हैं। यदि कोई कहे कि रावण और मेघनाद ने तो यह जान-बूझकर किया था, आपने को जान-बूझकर नहीं किया? भरतजी को इससे सन्तोष नहीं होता। उनकी कसौटी कड़ी है। जितनी जल्दी हम लोग स्वयं को निर्दोष और शुद्ध मान लेते हैं, उनके साथ वैसा नहीं है। हम लोग तो न जाने किस तराजू में तौलकर या किस कसौटी पर कसकर स्वयं को खरा मान लेते हैं, परन्तु भरतजी की कसौटी इतनी नकली नहीं है, वहाँ तो बड़ी कठिन परीक्षा है। कौन-सी कसौटी है उनके पास? पातजल-योग-दर्शन की यह कसौटी – अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाने पर उसके समीप आने पर दूसरे लोगों के मन की हिंसावृत्ति मिट जाती है –

अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:॥ २/३५

भरतजी के पास यही कसौटी थी। जिस व्यक्ति में अहिंसा आ गई है उस व्यक्ति के लिए कसौटी यह नहीं है कि वह दूसरों को कष्ट नहीं देता। यदि हमारे ऊपर किसी को क्रोध आवे और हमें क्रोध न आवे, तो हम समझते हैं कि वह हिंसक है और हम अहिंसक। परन्तु पातजलि का कहना है कि तुम क्रोध नहीं कर रहे हो, परन्तु यदि तुम्हारे सामने दूसरे को क्रोध आ जाय, तो समझ लो कि तुम्हारी अहिंसा में कुछ कमी है, तभी सामनेवाले को क्रोध आया। यह कितनी कठिन कसौटी है, तौलने का कितना बड़ा बाट है? इस कसौटी पर यदि कोई स्वयं को कसकर देखे, तो उसे कभी अपने चरित्र में पूर्णता का अनुभव नहीं होता। गोस्वामीजी ने तो बड़ी मधुर बात कही। उन्होंने कहा – भरत का यश तो चन्द्रमा है और भगवान राम का प्रताप है सूर्य। अब चन्द्रमा और सूर्य के साथ तो अनेक समस्याएँ जुड़ी हुई हैं। राहू सूर्य और चन्द्र को ग्रस लेता है। गोस्वामीजी ने कहा कि यहाँ भी श्रीभरत के यश-चन्द्र और

श्रीराम के प्रताप-सूर्य के साथ एक राहू जुड़ा हुआ है, पर इस सूर्य और चन्द्रमा की विलक्षणता यही है कि इनके साथ राहू होते हुए भी, वह इन्हें ग्रस नहीं पाता। गोस्वामीजी ने कहा –

ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥ २/२०९/४

कैकेयी का कृत्य राहु है, परन्तु वह भरतजी के यश-चन्द्र को ग्रस नहीं पाया। क्यों? यदि गहराई से देखें, तो इसका एक अन्य तात्पर्य है। श्रीभरत का यश और भगवान राम का प्रताप यदि चन्द्र व सूर्य हैं और कैकेयी का कार्य अगर राहू है, तो चन्द्र-सूर्य को ग्रहण तो लगना ही चाहिए था, पर लगा नहीं। कैकेयी के कार्य से न तो भरतजी का यश धूमिल हुआ और न श्रीराम का। बल्कि वास्तविकता तो यह है कि इससे दोनों का यश ससार के सामने प्रकट हुआ। ग्रहण क्यों नहीं लगा?

ग्रहण का एक नियम है। सभी जानते हैं कि जब तक पूर्णिमा की तिथि नहीं आयेगी, तब तक ग्रहण नहीं लगेगा। इसका सीधा-सा तात्पर्य यह है कि भरत भी यदि स्वयं को पूर्ण समझ लेते, तो राहू का ग्रास हो ही जाते। परन्तु स्वयं की अपनी दृष्टि में उनके जीवन में वह पूर्णिमा कभी नहीं आई और उन्हें ग्रहण नहीं लगा। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ व्यक्ति को अपनी पूर्णता का अभिमान हुआ, वहीं पतन की आशंका है। जहाँ पर चन्द्रमा निरन्तर बढ़ता जा रहा है, वहाँ ग्रहण की कोई आशका नहीं है। किसी ने भगवान राम से पूछा – महाराज, भरत-यश-चन्द्र पर तो ग्रहण इसलिए नहीं लगा, कि वह निरन्तर बढ़ता रहता है, परन्तु आपके प्रताप-सूर्य पर ग्रहण क्यों नहीं लगता? भगवान बोले – मैं तो भरत की कृपा से बच गया। – कैसे? कहा – सूर्यग्रहण का भी एक नियम है। जब तक अमावस्या की तिथि नहीं आती, तब तक सूर्यग्रहण नहीं लगता। जब चन्द्रमा पूरा अस्त होता है, तभी अमावस्या आती है। परन्तु न कभी भरत के प्रेम का अस्त हुआ, न कभी अमावस्या की तिथि आई और न मुझ पर ग्रहण लगा। इसका अभिप्राय यह है कि यदि भरत का प्रेम न हो, तो मुझ पर ग्रहण लग जायगा। भरत के कारण ही मुझ पर ग्रहण नहीं लगता। भरतजी इतने विनम्र हैं कि उनमें पूर्णता की पराकाष्ठा होते हुए भी वे सदा अपने आप को अपूर्ण ही मानते हैं। उनमें दोनों तत्त्व दिखाई देते हैं। गोस्वामीजी ने रामायण में अन्य चरित्रों की अपेक्षा भरतजी के चरित्र को अधिक महत्व दिया है। भरतजी का चरित्र तो सिद्ध का चरित्र है, परन्तु मनोभूमि में उनका आचरण सिद्ध जैसा न होकर साधक जैसा है। इसका अभिप्राय यह है कि साधकों को जितनी प्रेरणा भरतजी के चरित्र से प्राप्त हो सकती है, उतनी अन्यत्र नहीं मिल सकती। कुछ सिद्ध चरित्र ऐसे होते हैं, जिनका आचरण भी सिद्ध जैसा ही होता है। ये चरित्र पूजनीय, वन्दनीय और धन्य कर देनेवाले हैं। परन्तु कुछ सिद्ध ऐसे होते हैं, जिनका आचरण सिद्धों के समान न होकर साधकों जैसा होता है। भगवान श्रीरामकृष्ण के चरित्र में साधकों की जो विविध भूमिका है, उसका बड़ा महत्व है। इस अवतार का महत्व इस दृष्टि से भी बहुत अधिक है कि उसमें साधक को साधना की प्रेरणा भी प्राप्त होती है।। श्रीभरत के चरित्र में सिद्ध-तत्त्व भी है और साधक तत्त्व भी। उनके चरित्र में बड़ा विरोधाभास है। एक दिन श्रीराम अपने परिचरों के साथ वाटिका में बैठे हुए थे। भरतजी के मन में आया कि भगवान के मुख से सन्त के कुछ लक्षण सुनें, परन्तु उनमें संकोच और शील इतना है कि भगवान के सामने मुँह खोलकर बोल भी नहीं पाते। वे हनुमान जी की ओर देखने लगे कि जरा आप ही पूछ दीजिए, प्रभु कुछ बोलें तो हम लोगों को सुनने का सौभाग्य हो। हनुमानजी ने तत्काल हाथ जोड़कर भगवान से बोले – प्रभो, भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, परन्तु सकोचवश पूछ नहीं पा रहे हैं –

नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं।
प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥ ७/३६/६

तब भगवान ने अभिन्नता का तत्त्व प्रतिपादित किया और हनुमानजी की प्रशंसा करते हुए कहा – हनुमान, तुम तो मेरा स्वभाव जानते हो, भरत और मुझमें क्या रंच मात्र भी भेद है?

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥ ७/३६/७

यह अद्वैत तत्त्व है, जहाँ भरतजी और श्रीराम में रंच मात्र भी दूरी नहीं है। अपनी बात करने के बाद भगवान ने सहसा भरत की ओर देखा और मुस्कुरा कर बोले – भरत, तुम्हारे हृदय में कौन-सा सन्देह आ गया है, कौन-सा भ्रम आ गया है? यह तो बड़ी विचित्र बात है, तुम बताओ तो! तब भरतजी ने जिस भाषा का प्रयोग किया वह उनके चरित्र से मेल नहीं खाता। वे तो बड़े विनम्र हैं, सर्वदा अपने आप में दोष और अपूर्णता ही देखते हैं। परन्तु जब भगवान ने पूछा कि तुम्हारे मन में क्या सन्देह है, तो श्रीभरतजी ने तत्काल कहा – प्रभो, मुझे कोई सन्देह नहीं है –

नाथ मोहि संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह।

– जाग्रत की बात क्या! जाग्रत में तो मैं शोक-मोह से मुक्त ही हूँ, स्वप्न में भी मेरे मन में शोक-मोह-सन्देह नहीं आता।

लोग आश्चर्यचकित होकर भरतजी की ओर देखने लगे, क्या ये भरतजी बोल रहे हैं? इतना बड़ा दावा? परन्तु भरतजी के इस दावे के पीछे क्या उनकी विनम्रता ही है? अभी अभी तो भगवान राम ने हनुमानजी से कहा था कि भरत में और

मुझमें कोई अन्तर नहीं है। तो ऐसी स्थिति में भरतजी ने सोचा कि मैं अपने आप में कुछ भी कमी मानूँगा, तो वह भगवान में भी कमी मानी जायगी। इसलिए बोले – महाराज, आप में कमी नहीं है, तो मुझमें भी कमी नहीं है। न आप में शोक-मोह-भ्रम है और न मुझमें। भगवान ने कहा – चलो आज तो तुम सिद्ध की वाणी बोले। मैं यही सुनना चाहता था कि तुम स्वीकार करो कि मुझसे अभिन्न हो। मेरा लक्षण तुम्हारा लक्षण है। लेकिन भरतजी ने तुरन्त भगवान के चरणों को पकड़ लिया और बोले – महाराज, इसे आप मेरी साधना का परिणाम न समझिएगा, यह मेरी योग्यता का परिणाम नहीं है। – तब? 'सोऽहम्' से 'दासोऽहम्' पर पहुँच गए। बोले –

नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि कृपानंद संदोह ॥ ७/३६

– आप सच्चिदानन्द हैं और अपनी कृपा के द्वारा यदि आपने मुझे अपने उसी रूप में परिणत कर दिया है, तो इसमें आपकी कृपा की ही विशेषता है, न कि मेरी साधना या पुरुषार्थ की।

इस प्रकार एक ओर तो भरतजी अपने जीवन में एक साधक की – दासत्व की भूमिका स्वीकार करते हैं, तो दूसरी ओर सिद्ध की – भगवान के साथ एकत्व तथा अभिन्नता की भूमिका भी स्वीकार करते हैं। परन्तु पूरे रामायण में ऐसे दो ही प्रसग आते हैं जहाँ वे भगवान के साथ अभिन्नता की भूमिका में दिखाई देते हैं, बाकी सर्वत्र उनके चरित्र में निरन्तर एक साधक की विनम्रता ही दिखाई देती है, उनको निरन्तर अपने आप में कमी ही दिखाई देती रहती है। उन्हें लगता है कि यदि सचमुच ही मेरा अन्तःकरण शुद्ध होता, तो क्या मैं हनुमानजी जैसे सन्त को राक्षस समझ लेता। कहते हैं कि सच्चे भक्तों को सर्वत्र भगवान दिखाई देते हैं। भरतजी बोले कि हनुमानजी के हृदय में साक्षात् राम बैठे हुए हैं और मुझे दिखाई नहीं दिया। बल्कि उल्टे यह लगा कि कोई राक्षस जा रहा है। यदि मेरा हृदय अपवित्र न होता, यदि मेरे अन्तःकरण में ही राक्षसत्व न होता, तो हनुमानजी जैसे सन्त को भला मैं राक्षस कैसे समझ लेता? मैं तो इतना दोषयुक्त हूँ कि यदि प्रभु मेरी ओर देखेंगे, तो वे मुझ पर कृपा करना तो दूर, वे मुझे वही दण्ड देंगे, जो उन्होंने रावण तथा मेघनाद को दिया था।

वैसे हनुमानजी ने इस घटना को भरतजी की दृष्टि से नहीं लिया। दोनों भक्तों की अपनी अपनी भूमिका है। भगवान राम ने जब पूछा – हनुमान, तुम्हें देखकर तो भरत को भ्रम हो गया और भ्रमवश उसने तुम पर बाण चला दिया। तो हनुमानजी ने तत्काल भगवान के चरण पकड़ लिये और कहा – महाराज, यदि भ्रम हुआ, तब तो मैं यह सोचकर उस भ्रम को भी धन्य कहता हूँ कि जिनका भ्रम इतना महान् है, उनका ज्ञान कितना महान् होगा? इस भ्रम में महानता कहाँ है? हनुमानजी ने कहा – महाराज, भ्रम से भ्रम बढ़ता है, लेकिन जिसे आप भरत का भ्रम कह रहे हैं, उसने तो मेरे जीवन के सारे भ्रम को दूर कर दिया। यदि उनको यह भ्रम न होता, तो मेरा भ्रम कभी दूर ही न होता। जिस भ्रम ने मेरे भ्रम को दूर कर दिया, उसे मैं भ्रम कैसे मानूँ, वह तो मेरी दृष्टि में ज्ञान से भी महान् है। – तुम्हारा भ्रम कैसे दूर किया? बोले – महाराज, मुझे यह भ्रम हो गया था कि यदि मैं न होता, तो मूर्छित लक्ष्मणजी को उठाकर कौन लाता! सुषेण वैद्य को घरसहित उठाकर कौन लाता! दवा के पहाड़ को उठाकर कौन लाता! जब मैं पर्वत को लेकर आकाश में जा रहा था, तब मेरे मन में कहीं-न-कहीं यह बात अवश्य छिपी रही होगी, जो सन्त भरत की दृष्टि में आ गयी। मेरे इतने पास, मेरे हृदय में जो भाव आया, मैं स्वयं उसे नहीं देख पाया और इतनी दूर से उन्होंने देख लिया। जिनकी ऐसी दृष्टि हो, उनका भ्रम तो कहने मात्र का है, वस्तुतः वह भ्रम नहीं, परम ज्ञान की दृष्टि है, सत्य को पहचानने की दृष्टि है। महाराज, यदि आप कहें कि वह भरत का भ्रम था, तो उस भ्रम ने तो मेरा सारा भ्रम दूर कर दिया। – कैसे? बोले – ज्योंही भरतजी ने बाण चलाया, तो बाण लगते ही मैं नीचे गिर पड़ा, किन्तु जिस पर्वत को मैं उठाए हुए था, वह नहीं गिरा। मेरे साथ उसे भी तो गिरना चाहिए था, परन्तु वह नहीं गिरा। मैं गिर पड़ा, परन्तु वह पर्वत आकाश में रुका रहा। मेरा सारा भ्रम दूर हो गया। भरतजी के बाण ने बता दिया कि पर्वत को उठानेवाला कोई दूसरा है। इसलिए पर्वत तो जहाँ का तहाँ रहा और जो गिरनेवाला था, वह गिर गया। बस मेरा यह भ्रम दूर हो गया कि पर्वत को उठाकर मैं ले जा रहा था। महाराज, कितना कल्याणकारी है यह भरतजी का भ्रम। भगवान ने भी यही कहा – हनुमान, बात तो सही यही है।

एक दिन भगवान राम ने भी भरतजी से यही कहा था। बोले – भरत, तुमसे बड़ा कोई पुण्यात्मा नहीं है। भरतजी ने कहा – नहीं महाराज, मुझसे बड़ा कोई पापी नहीं है। पूछा – तुम अपने आपको पापी कैसे कहते हो? बोले – अपने कार्य को देखकर। – क्या? बोले – जो दूसरों को कष्ट देता है, वह पापी है और जो साक्षात ईश्वर को कष्ट दे, भक्तिरूपा श्रीसीताजी को कष्ट दे, उससे बढ़कर पापी कौन होगा?

मोहि समान को पाप निवासू।
जेहि लगि सीय राम बनबासू ॥ २/१७९/३

आपको वन में आकर जितना कष्ट उठाना पड़ रहा है, वह सब मेरे ही कारण तो है। इसलिए संसार का सबसे बड़ा

पापी मैं हूँ। भगवान ने प्रसन्न होकर कहा – भरत, अब तो मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि तुमसे बढ़कर पुण्यात्मा अन्य कोई नहीं है। – क्यों? बोले – पहले मैं यही सोचता था कि मैं बड़ा पुण्यात्मा हूँ। क्योंकि जब वाल्मीकिजी ने पूछा कि तुम्हें वन आना क्यों पड़ा, तो मैंने उनसे यही कहा –

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥ २/१२५

मैं समझता था कि मुझे जो वनवास मिला, वह मेरे पुण्य का फल है, परन्तु अब तुम्हारी बात से मेरा भ्रम दूर हो गया। जब तुम यह कह रहे हो कि यह मेरा वनवास तुम्हारे पाप का फल है, तो जिसे मैं अपने पुण्य का फल समझ रहा था, वह तुम्हारे पाप का फल निकला। अब जिसका पाप इतना श्रेष्ठ है उसका पुण्य कितना श्रेष्ठ होगा! इतना बढ़िया पाप, जिसके द्वारा ससार का इतना कल्याण हो, मुझे इतना दिव्य सत्संग प्राप्त हो, सौभाग्य प्राप्त हो, तो उसका पुण्य कितना महान होगा। भगवान राम कहते हैं – भरत, जिसे तुम अपना पाप कहते हो, वह भी धन्य है और जिसे तुम अपना भ्रम कहते हो, वह भी धन्य है।

श्रीभरत तो विनम्रता की मूर्ति हैं। उनमें तो सपने में भी ज्ञान का, पुण्य का अभिमान नहीं है। वे तो अपने प्रत्येक कार्य में भ्रम और दोष ही देखते हैं। इसलिए श्री राघवेन्द्र जब लंका से लौटे तो भरतजी ने उनके चरणों में प्रणाम किया। और जब वे उठाने की चेष्टा करने लगे तो भरत उठ नहीं रहे हैं। भगवान राम ने कहा – भरत, उठ क्यों नहीं रहे हो? भरतजी ने कहा – महाराज, पाप का भार इतना अधिक है कि उसे उठाना आपके लिए भी कठिन हो रहा है। भगवान बोले – नहीं भरत, चौदह वर्षों में सचमुच तुम इतने भारी हो गये हो कि तुम्हें उठा पाना मेरे लिए भी सम्भव नहीं है। – क्यों? बोले –

नित नव राम प्रेम पनु पीना॥ २/३२५/२

तुम्हारा यह दिव्य प्रेम उत्तरोत्तर इतना बढ़ता गया कि यह प्रेमराशि मेरे कृपा और सामर्थ्य से भी अधिक हो गया है। भरत, उठो, मैं तुम्हें अपने हृदय में स्थान देना चाहता हूँ।

यद्यपि श्रीभरत यही मानते हैं कि यह मेरा पाप का ही भार है, परन्तु चौदह वर्षों तक वे निरन्तर अयोध्या का राज्य चलाते हुए भी प्रतिक्षण सावधान रहकर तप एव साधना के द्वारा राजा जनक की तरह विदेह हैं। बल्कि श्रीभरत जनकजी से भी बहुत आगे हैं। महाराज जनक तो अकेले ही जनक हैं, परन्तु रामायण में लिखा हुआ है कि अगर किसी ने हजारों को जनक बना दिया, तो वे हैं श्रीभरत। भरतजी के तो दर्शनमात्र से लोग जनक के समान विदेह हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने कहा कि जब श्रीभरत ने अयोध्या के राजसभा में भाषण दिया, उस समय लोगों पर उनके भाषण का क्या प्रभाव पड़ा? बोले –

सो दसा देखत समय तेहि
बिसरी सबहि सुधि देह की। २/१७६ छन्द

वहाँ उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति भरतजी की वाणी को सुनकर विदेह हो गया, देह से ऊपर उठ गया। भरतजी की तो कोई बात सुन ले, तो विदेह हो जाय और उन्हें देख ले, तो विदेह हो जाय। जिस समय निषादराज ने भरत का दर्शन किया तो क्या हाल हुआ उनका? बोले –

देखि भरत कर सील सनेहू।
भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥ २/१९५/४

तब निषाद निषाद नहीं, साक्षात् विदेह हो गये। इधर भरतजी ने कहा कि मुझे तो निषाद को देखते ही महाराज जनक की याद आ गई। – क्यों? बोले – महाराज ने भी भगवान के चरण पखारे थे और इन्होंने भी पखारा है। मानो दोनों एक ही हैं। जो सौभाग्य जनकजी को मिला वही निषाद को मिला, अब क्या निषाद जनकजी से रंचमात्र भी कम हैं? इस तरह श्रीभरत तो अपने चरित्र के द्वारा दूसरों को विदेह बना देते हैं। लेकिन उन्होंने अपने चरित्र में साधक की ही भूमिका स्वीकार की, सिद्ध की नहीं। वे चाहते तो राज्य में रहकर भी महाराज जनक की तरह विदेह रह सकते थे, परन्तु वे जान-बूझकर राज्य से थोड़ा हटकर नन्दीग्राम में रहते हैं। वहाँ रहकर वे तपस्वी के वेश में तपस्या करते हैं। वे चाहते तो श्रेष्ठ वस्त्र धारण करके भी मन को उसके प्रभाव से अलग रख सकते थे। परन्तु तपस्वी के रूप में श्रीभरत की जो तपस्या है, यह श्रीभरत की निरन्तर जागरुकता और सजगता का द्योतक है। इसमें महत्वपूर्ण संकेत यह है कि साधक यदि स्वयं को सिद्ध मानने की भूल करेगा, तो उसका पतन हुए बिना नहीं रहेगा। श्रीभरत तो सिद्ध हैं, उनके जीवन में पतन की सम्भावना नहीं है, परन्तु साधक की भूमिका में वे निरन्तर विषयों से दूर रहकर तपस्या करते हैं। राज्य का संचालन करते हैं, तो थोड़ी दूरी बनाए रखकर ही। नित्य स्वय को तपस्या की कसौटी पर कसकर देखते हैं।

□ □ □ □ (क्रमशः) □ □ □ □

माँ के सान्निध्य में (५४)

अज्ञात

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदादेवी का जीवन दैवी मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी उपदेशों का मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे हैं। इसी बीच अब तक प्रकाशित हुए अधिकांश अंशो का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है उसी के प्रथम भाग से आगे के कुछ अप्रकाशित अंशों का हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१९१४ ई. में पौष की चतुर्दशी तिथि और मंगलवार का दिन था। कई दिनों से श्री माँ का दर्शन करने को मन बड़ा ही व्याकुल था, परन्तु उनके पास जाने का कोई उपाय नहीं था, क्योंकि मैं भला किसे साथ लेकर जाती! बैठकर सोच रही थी कि यदि माँ स्वयं ही इस सन्तान पर दया करें, तो ही उनका दर्शन हो सकता है। तभी कमला और विमला ने आकर कहा, "दीदी, तुम्हें माँ बुला रही हैं।" सुनकर मैंने सोचा – लगता है कि मेरी इच्छापूर्ति का का कोई मार्ग निकल आएगा। मानो कोई मेरे कानों में कह गया – "अरे, माँ ने बुलाया है।"

मैं जल्दी से तैयार होकर विमला के घर गयी। उस समय सुबह के सात बजे होंगे। मैंने जाकर देखा कि ललित और उसकी माँ बैठी बातें कर रही हैं। मुझे देखते ही ललित की माँ कह उठीं, "अरे, दीनू आई है, देखो तो मेरी यह बिटिया कैसी पागल है, ऐसे ही दौड़ी चली आई।"

ललित बोला, "दीदी, आपने श्रीमाँ को देखने की इच्छा की थी न? आज मैं आपको साथ ले जा सकता हूँ।"

मैं – यह तुम्हारी कृपा है।

ललित की माँ ने कहा, "यह क्या जी! छोटे भाई की भी क्या कृपा मानी जाती है?"

मैं बोली, "तो बताइये मैं और क्या कहूँ, यदि इन लोगों के कृपा पर निर्भर न रहती, तब तो बहुत पहले ही माँ का दर्शन करने जा सकती थी।"

मैं सचमुच ही माँ का दर्शन करने जाऊँगी – सहसा मैं इस खुशखबरी पर मानो विश्वास नहीं कर सकी, इसीलिए ललित से कहा, "भाई, सच बता, तू जायेगा या नहीं? यदि जाना हो तो गाड़ी ले आ।" उसी समय मैंने उससे पूछा, "भाई, तुमने माँ को देखा है क्या?" मेरी इस बात पर आनन्दित होकर ललित कहने लगा, "दीदी, एक बार मैं माँ को देखने गया था। अहा! माँ की कैसी दया है, उनका अपूर्व स्नेह, दीदी तुम्हे क्या बताऊँ! माँ ने मुझे फिर आने को कहा है।"

ललित गाड़ी लाने चला गया; जाते समय कह गया, " मैं गाड़ी लाने जा रहा हूँ, तुम लोग तैयार होकर रहना।"

मैं, ललित की माँ और उसकी बहनें श्रीमाँ का दर्शन करने चल पड़ीं। मेरे साथ पाँचू भी गया।

पारुल ने कहा, "दीदी, तुम ठीक जानती हो न कि माँ बागबाजार में ही हैं?" मैं उसकी बात सुनकर हड़बड़ा गई – माँ हैं या नहीं, यह तो मैं ठीक-से नहीं जानती। मन में आशंका हुई; मैं मन-ही-मन ठाकुर से कहने लगी, "प्रभो, मुझे निराश मत करना।" दस बजे गाड़ी 'उद्‌बोधन' कार्यालय के सामने जा पहुँची। गाड़ी के ठहरते ही मैं तेजी-से उतर गयी। सामने 'उद्‌बोधन' कार्यालय था; महाराज लोग अपने कार्यों में व्यस्त थे, परन्तु मैंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। जगत् उस समय मुझे शून्यमय बोध हो रहा था! यदि उसी समय सुनती कि माँ यहाँ नहीं हैं, तो मैं क्या करूँगी – यह सोचकर मानो मेरी चेतना ही लुप्त हो रही थी। सामने जिसको भी देखती थी, उसी से पूछती थी, "माँ हैं?" मेरी बात सुनकर महाराज लोग सिर झुकाए चले जा रहे थे, कोई कुछ उत्तर नहीं दे रहा था। इसी बीच ललित को गाड़ी से उतरकर ऊपर जाते देख मैं भी उसके पीछे थोड़ी दूर गयी थी कि ललित लौट आया और बोला, "माँ हैं।" मेरे अन्तर से एक बड़ी चिन्ता दूर हुई। मैं तब धीरे धीरे आगे बढ़ने लगी। सामने के कमरे को दाहिनी ओर रखकर मैं बायीं ओर के बरामदे से होते हुए चलने लगी। सामने देखा – एक महिला आधा घूँघट काढ़े खड़ी हैं। दो-तीन पुरुष भक्तों को उन्हें प्रणाम करते देखकर मैं समझ गई कि ये ही श्रीमाँ हैं, जिन्हें देखने के लिये मैं उन्मत्त होकर दौड़ी आई हूँ। मैंने उस समय क्या किया, इसका स्मरण नहीं है। मुझे देखते ही भक्तगण चले गये। मैं दौड़ती हुई जाकर माँ के दोनों चरणों को पकड़ कर बैठ गयी।

माँ ने पूछा, "कहाँ से आई हो, क्यों आई हो?"

मैं – क्यों आई हूँ, यह तो नहीं जानती माँ। आप लायी हैं, इसीलिए आई हूँ।

उसी समय ललित की माँ आदि भी आ पहुँचीं। थोड़ी देर खड़ी होने के बाद वे बोलीं, "क्या ये ही श्रीमाँ हैं?"

मैं – हाँ।

तब सभी ने उनको प्रणाम किया। अब श्रीमाँ ठाकुर के पूजा-घर में गयीं। हम लोगों ने भी उनके साथ जाकर ठाकुर को प्रणाम किया। माँ सामने के तख्त पर आसीन होकर बोलीं, "बैठो, बेटी, बैठो।"

हम लोग उनके चरणों में बैठे । ललित की माँ संसारी आदमी थी, माँ उनके साथ संसारी के समान बातचीत करने लगी ।

ललित की माँ ने कहा, "माँ, हम लोगों को कुछ ठाकुर की बाते बताइये । हम संसारी लोग हैं, हमें कुछ उपदेश दीजिये ।"

माँ – मैं कुछ भी नहीं जानती, बेटी; ठाकुर के मुख से जो सुना है, उसे उनके 'वचनामृत' में पढ़ो । उसी से सब उपदेश हो जायेगा ।

गाड़ी-भाड़ा चुकाने के बाद ललित ऊपर आया और आते ही माँ के श्रीचरणों में सिर रखकर साष्टांग लोट गया और आँसुओं की धारा बहाते हुए अत्यन्त आर्त स्वर में दर्शकों को आकुल करते हुए, माँ से प्रार्थना करने लगा, "दयामयी माँ, दया कीजिए । माँ, आप इस जगत् का उद्धार करने आई हैं, मुझे भी खींच लीजिए । मैं आपके चरण नहीं छोड़ूँगा, मुझे चरणों में स्थान देना ही होगा ।" यह कहकर वह रोने लगा । माँ प्रतिमा के समान स्थिर-निश्चल खड़ी रहीं; थोड़ी देर बाद बोलीं, "ऐसा मत करो बेटा, उठो ।"

ललित केवल पन्द्रह-सोलह साल का लड़का था । बालक के छद्मवेश में ढकी हुई महाशक्ति अब व्यक्त हो रही थी । उसके दिव्य साँवले सुगठित शरीर का अंग अंग मानो भगवद्भक्ति रूपी सुधास्रोत से परिपूर्ण था और बाहर भी वही अनुराग प्रगट हो रहा था । "माँ, मुझे श्रीचरणों में स्थान दीजिए । बोलिए, नही तो मैं नहीं उठूँगा, बोलिए कि मुझे स्वीकार कर लिया है ।" – यह कहकर ललित फिर रोने लगा । उसी समय सहसा घी का एक बर्तन पाँव से टकरा जाने के कारण वह घबड़ाकर उठ बैठा और कहने लगा, "मैंने यह क्या किया, किसी ने भक्तिपूर्वक माँ को घी दिया है, और उसमें मेरा पाँव लग गया, छी! छी! यह मैंने क्या किया!" यह कहकर वह दु:ख व्यक्त करने लगा । उस समय मन्दिर में सिर के ऊपर केश बाँधे गौरवर्ण की एक वृद्ध विधवा महिला ठाकुर के सेवा कार्य में लगी थीं । वे बोलीं, "बेटा, दुखी मत होओ, पाँव लग गया है तो अब क्या करोगे? पाँव तो सृष्टि के बाहर का कुछ नहीं है, मनुष्य के पाँव भी सृष्टि के भीतर ही हैं, पाँव भी तो शरीर का ही एक अंश है ।" हम लोगों ने मुड़कर उनकी ओर देखा । उनका सौम्य मुखमण्डल और सरल उदार बाते हमें बड़ी अच्छी लगीं । ललित को उनकी बातों से काफी सान्त्वना मिली और सहज होकर वह माँ को प्रणाम करके बोला, "माँ, मुझे आशीर्वाद दीजिए ।" माँ ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा, "तुम पर ठाकुर का आशीर्वाद होगा ।" इसके बाद ललित नीचे चला गया ।

उसी समय एक सोलह-सत्रह साल की बालिका का हाथ पकड़े एक प्रौढ़ वयस्क सज्जन आकर दरवाजे के पास खड़े हो गये और बोले, "माँ, यह मेरी पुत्री है । इसकी एक बच्ची हुई थी । आज सुबह उसकी मृत्यु हो गयी । यह बड़ी शोक-विह्वल है, इसीलिए सान्त्वना दिलाने को आपके पास ले आया हूँ ।" यह सुनकर हम सभी स्तब्ध रह गये । माँ बोलीं, "आओ, बेटी, आओ ।" बालिका कमरे में आकर माँ के पास बैठी और उनकी चरणधूलि लेने को उसने हाथ बढ़ाया । माँ ने थोड़ा-सा खिसककर पूछा, "क्यों, मुझे छुएगी क्या? तेरा अशौच जो हुआ है!" यह बात सुनकर बालिका का चेहरा और भी उतर गया । वह संकुचित होकर बैठी रही । माँ ने उसके मुख की ओर देखते हुए करुणापूर्ण स्वर में कहा, "अहा, बेटी! बड़ी पीड़ा पाकर मेरे पास सान्त्वना के लिए आई हो । मैंने तुम्हारे मन को कितना कष्ट दिया! सो, हुआ करे अशौच; आओ, बेटी, मेरे पाँवों में हाथ लगाकर प्रणाम करो ।" यह कहकर वे बालिका के और भी निकट आकर बैठ गईं । तब उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ माँ के श्रीचरणों में सिर रखकर प्रणाम किया । माँ ने भी उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया । माँ उस बालिका के पास बैठकर मधुर शब्दों में समझाने लगीं, " मैं तुम्हें क्या कहूँगी बेटी, मैं तो कुछ भी नहीं जानती । ठाकुर का एक चित्र अपने पास रखो और जानना कि वे सत्य हैं – ठाकुर तुम्हारे पास ही हैं । उनके सामने रो-रोकर अपने मन का दु:ख जताना, व्याकुल होकर रोती हुई कहना – ठाकुर, मुझे अपनी ओर खींच लो, मुझे शान्ति दो । इसी प्रकार करते करते तुम्हारे प्राणों में स्वयं ही शान्ति आयेगी । ठाकुर में भक्ति रखो, जब भी कष्ट होगा, उन्हें बताना ।" मेरी ओर देखते हुए माँ बोलीं, "अहा! आज ही शोक मिला है! आज क्या शान्त हो सकेगी?" बालिका के पिता द्वार पर खड़े थे । पिता-पुत्री दोनों माँ को प्रणाम करके, अपना दु:ख निवेदित करके शान्त होकर चले गये ।

कमरा खाली देखकर मैं बोली, "माँ, मुझे एक बात कहनी है । यदि आप अनुमति दें तो कहूँ ।" मुझे आगा-पीछा करते देखकर उन सेवारत सौम्यमूर्ति वृद्धा (बाद में पता चला कि वे श्रद्धेय गोलाप माँ थीं) ने कहा, "कहो, बेटी, कहो; अपने मन की बात नि:संकोच भाव से माँ के सामने कहो । माँ के पास लज्जा कैसी!" तब मैंने कहा, "माँ, बात और कुछ नहीं है – मैंने स्वप्न में ठाकुर और आपको देखा था । आप मुझे मंत्र दे रही थीं, परन्तु वह पूरा नहीं हुआ । तभी से मैं आपके पादपद्मों में आश्रय लेने के लिए बड़ी व्याकुल हूँ ।"

माँ ने प्रसन्न-मुख से कहा, "ठीक तो है, आज ही तुम्हें दीक्षा दूँगी, परन्तु तुम्हारे पति की सहमति तो है न?"

मैं – अपने पतिदेव से मैंने यह बात कही थी । उन्होंने कहा, 'मुझे आपत्ति नहीं है । मैं अभी दीक्षा नहीं लूँगा, तुम ले सकती हो ।'

माँ – तुम्हारे पति कहाँ हैं?

मैं – रायपुर में ।

माँ ने स्नानघर दिखाते हुए कहा, "वहाँ से हाथ-पाँव धोकर आओ ।"

मैं – माँ, मैंने अभी तक स्नान नहीं किया है ।

माँ – ठीक है, स्नान की जरूरत नहीं है ।

मैंने स्नानघर में जाकर हाथ-पाँव धोने के बाद मन्दिर में जाकर देखा कि माँ ने दो आसन लगा रखे हैं । वे स्वयं कोशा-कोशी में गंगाजल लेकर ठाकुर की ओर मुख करके बैठीं । उन्होंने अपनी बायीं ओर के आसन पर मुझे बैठने को कहा । उन्होंने कोशा से गंगाजल लेकर आचमन किया और मुझसे भी वैसा ही कराया । उसके बाद वे बोलीं, "तुम्हारी किस देवता में भक्ति है ?" मैंने बता दिया । उन्होंने मुझे दीक्षा देकर समझा दिया कि किस प्रकार जप करना होगा । तभी से मेरे हृदय में परम आनन्द का एक प्रवाह बहने लगा और भीतर-बाहर के विपुल आनन्दोच्छ्वास ने उठकर मुझे अभिभूत कर डाला । मैं कुछ नहीं जानती, माँ ने सब सीखा दिया । दीक्षा के अन्त में माँ ने कहा, "दक्षिणा दो ।"

मैं – माँ, मैं तो कुछ जानती नहीं । आप बता दीजिए कि मैं क्या करुँ, मैं तो कुछ लाई नहीं हूँ ।

माँ उठीं और अंजलि भरकर फूल, सन्तरे, बेर आदि लाकर मेरे हाथों में देते हुए बोलीं, "कहो – अपने पूर्व जन्म और इस जन्म में जाने-अनजाने मैंने जो भी पाप-पुण्य किये हैं, सब तुमको समर्पित करती हूँ ।" मैंने भी वैसा ही कहा और माँ ने हाथ फैलाकर वह सब ग्रहण कर लिया ।

माँ! इस दीन-हीन, कंगाल-अधम के ऊपर तुम्हारी यह कैसी अहैतुकी दया है! इसने मेरे प्राण-मन आच्छन्न कर लिया है – यह सब मैंने क्या देखा! क्या सुना! आज मैं अपना देह-मन-प्राण माँ के श्रीचरणों में समर्पित करके धन्य हो गयी । माँ को प्रणाम करके मैं बरामदे में आई और आविष्ट के समान घण्टा-भर रेलिंग पकड़कर खड़ी रही । उसी समय कमरे से एक बालिका की चिल्लाहट और माँ की आवाज सुनकर मैं भीतर गयी । मुझे देखकर माँ बोलीं, "बैठो, बेटी, बैठो ।" मेरे बैठने पर माँ ने कहा, "यह मेरी भतीजी है, नाम राधारानी है । इसकी माँ पागल हो जाने के कारण मैंने ही इसका पालन किया है ।" माँ ने उसे पकड़ रखा था, परन्तु वह बेचैन होकर भागने की कोशिश कर रही थी । माँ उसे कितने ही प्रकार से समझा रही थी । उसके केश बाँध दिये, उसे कपड़े पहना दिये, अपने हाथ से खिला दिया और कितने ही प्रकार की स्नेहपूर्ण बातें कहने लगीं । श्रीमाँ का सामान्य लोगों के जैसा यह आचरण मैं अवाक् होकर देखने लगी । तभी गंगास्नान के लिए बुलावा आने पर मैं उठ गयी । स्नान के बाद लौटकर मैंने देखा कि माँ ठाकुर को भोग दे रही हैं । मन्दिर से ही आकर वे ठाकुर के भोग के कमरे में गयीं, वहाँ भोग सजाकर रखा था; बाद में उस कमरे के द्वार बन्द करके हमारे कमरे में आयीं । थोड़ी देर बाद महाराज-लोग भोजन के लिए बैठे । गोलाप माँ परोस रही थीं । भोजन समाप्त हो जाने पर वे लोग चले गये । ठाकुर के भोग की थाली माँ के लिए बीच के कमरे में लायी गयी और हम उपस्थित महिलाओं तथा पाँचू (मेरे साथ गया हुआ पाँच साल का एक बालक) के लिए उसी कमरे में व्यवस्था हुई । श्रीमाँ और हम सभी भोजन के लिए बैठे । मेरी माँ का प्रसाद ग्रहण करने की इच्छा थी, इसीलिए मैं चुपचाप बैठी रही । सभी भात-दाल मिलाने लगे, परन्तु मैंने हाथ तक नहीं लगाया । माँ ने दो-तीन बार कहा, "खाओ, खाओ ।" उसी समय गोलाप-माँ ने आकर पूछा, "क्या हुआ है जी?" मैंने उनसे कहा, "मुझे थोड़ा-सा प्रसाद दीजिए ।" तब माँ ने भात-दाल मिलाकर थोड़ा-सा खाने के बाद मेरे पत्तल में डाल दिया । अहा! क्या कहूँ! उस दिन मुझे क्या ही अमृत खाने को मिला! अरहर की दाल गोभी की सब्जी और चटनी – सब कुछ बड़ा अच्छा हुआ था । पाँचू 'और सब्जी खाऊँगा' कहकर शोर मचाने लगा । उसे चुपके-से डाँटने पर भी वह मान नहीं रहा था । उसी समय गोलाप माँ फिर आकर बोलीं, "क्या हुआ है, बच्चा ऐसा क्यों कर रहा है?"

मैंने कहा, "माँ, मैं इसे लाना नहीं चाहती थी । मैं छिप कर आ रही थी । गाड़ी थोड़ी दूर निकल गयी थी । वह रास्ते पर खेल रहा था । वह दौड़कर गाड़ी पर चढ़ गया और अब यहाँ 'और सब्जी खाऊँगा' कहकर गड़बड़ी मचा रहा है ।" यह सुनकर माँ, गोलाप-माँ – सभी हँसने लगीं । गोलाप-माँ ने कहा, "तुमने उसे धोखा देना चाहा था, पर भला कैसे दे पाती? इसका पुण्य था, इसीलिए माँ को देख सका, यह क्या कम भाग्य की बात है! उसका कल्याण होगा ।" माँ ने भी "हाँ, ठीक ही तो है" कहकर सहमति व्यक्त किया ।

भोजन के बाद मैं पूरे दिन माँ के पास ही बैठी रही । मेरी रायपुर जाने की बात थी । यह जगह काफी दूर है और सम्भव है कि निकट भविष्य में माँ को न देख सकूँगी – इसी आशंका से, पारुल और कमला के बुलाने पर भी मैं गयी नहीं । माँ छत पर केश सुखा रही थीं । जाड़े का मौसम था, इसीलिए धूप में बैठी थीं और मुझे अपने मायके की बातें कहने लगीं, "राधू को पाल-पोसकर बड़ा किया, वह पगली है, बिना खिलाये खाती नहीं; और मेरा भी स्वास्थ्य ठीक नहीं है, बेटी, वात की पीड़ा से कष्ट पा रही हूँ । इसी बीमारी के लिए काशी-वृन्दावन गयी, परन्तु कुछ भी नहीं हुआ ।"

मैं – आप काशी-वृन्दावन गयी थीं?

माँ – क्या कहूँ!

विभिन्न विषयों पर चर्चा के बाद माँ ने कहा, "तुम्हारी छोटी-सी आयु है, बच्ची मात्र हो, तुम्हारी इसी समय दीक्षा लेने की इच्छा क्यों हुई?"

मैं – क्या कहूँ माँ, संसार मुझे अच्छा नहीं लगता। मेरे हृदय में संसार से कोई लगाव नहीं है। मेरे प्राणों में बड़ी अशान्ति थी, आज मुझे शान्ति मिली है। और यह संसार भी अनित्य है, दो दिन के लिए है, सब मिथ्या प्रतीत हो रहा है। इसमे मैं भला मन को कैसे लगा सकती हूँ, माँ?

उसी समय माँ की ही आयु की एक महिला आकर उनके पास बैठी। मैं माँ के खूब निकट बैठी थी, उनकी छाया मेरे शरीर पर पड़ती हुई देखकर उक्त महिला ने मुझे डाँटते हुए कहा, "तुम कैसी लड़की हो जी, माँ की छाया के ऊपर बैठी हो? पाप लगेगा न, खिसक कर बैठो।" मैं यह बात नहीं जानती थी। माँ अपनों से भी बढ़कर अपनी थीं, इसीलिए मैं उनके बिल्कुल पास बैठी थी, परन्तु अब थोड़ा घबड़ाकर खिसककर बैठी। उन महिला ने माँ से पूछा, "यह लड़की कौन है?"

माँ – इस बच्ची ने आज दीक्षा ली है, बड़ी भक्तिमती है।

माँ की इस बात पर मैं लज्जित होकर पास के कमरे में चली गई, जहाँ पारुल आदि बैठकर बातें कर रही थीं। तभी ललित ने आकर कहा, "दीदी, चलो, गाड़ी तैयार है। सन्ध्या हो गयी है।" मैं माँ के पास विदा लेने गयी।

माँ ने कहा, "फिर कब आओगी, बेटी?"

मैं – आप जिस दिन याद करके लाएँगी, उसी दिन आऊँगी; मुझमें कोई क्षमता नहीं है। माँ, आशीर्वाद दीजिए; मुझे स्मरण रखिएगा।

माँ – फिर आना, बेटी।

मैं कातर नयनों से उनकी ओर देखती रही। उन्होंने दो बीड़े पान लाकर मुझे दिया। मैं माँ के चरणों में लोटकर, मानो 'स्वयं को वहीं छोड़' शरीर लेकर विदा हुई। माँ भी सजल नेत्रों के साथ सीढ़ी पर आकर खड़ी हो गयी। आज मेरी भीतर-बाहर सब कुछ परिपूर्ण था; गाड़ी में बैठकर भी मानो उन्हीं की बातें सुन रही थी। माँ ने अपनी बात की रक्षा स्वयं ही करायी थी; दो साल बाद माँ की बीमारी के समय रायपुर से लौटकर मुझे पुनः उनका दर्शन मिला था।

□ (क्रमशः) □

प्रार्थना

जितेन्द्र कुमार तिवारी

शिव संकल्पित हो मन मेरा।

मन का अन्धकार मिट जाये,
गान अमरता के नित गाये।
आगे बढ़कर निर्भयता से –
ज्योतिर्मय पथ को अपनाये।
करे साधना सुन्दरता की,
सत्य समर्पित हो मन मेरा।
शिव संकल्पित हो मन मेरा ।।१।।

मन तो मन के पास है रहता,
सुख-दुख सबके साथ है सहता।
बुद्धि स्वार्थ की बातें करती,
स्वार्थ न परहित को है गहता।
परदुख-कातरता, करुणा से –
कभी न वंचित हो मन मेरा।
शिव संकल्पित हो मन मेरा ।।२।।

केवल अपने हित जो जीता,
और स्वार्थ का आसव पीता।
व्यर्थ है उसका जीवन सारा –
अमृतत्व से रीता-रीता।
'मा निषाद ...' की करुणा-धारा –
से ही सिंचित हो मन मेरा।
शिव संकल्पित हो मन मेरा ।।३।।

जब भी कोई मुझे पुकारे,
जा पहुँचूँ मैं उसके द्वारे।
दीन-दुखी की सेवा करते –
कभी न मेरी काया हारे।
मानवता से और दया से –
ही परिपूरित हो मन मेरा।
शिव संकल्पित हो मन मेरा ।।४।।

जीना सीखो (१)
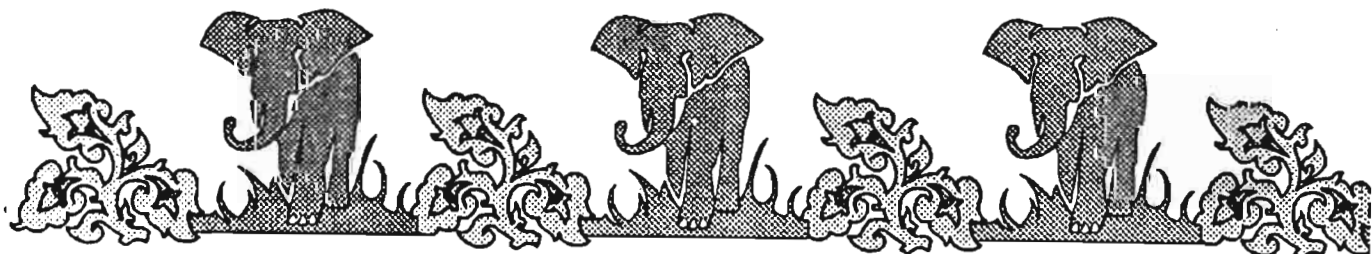
स्वामी जगदात्मानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जगदात्मानन्द जी ने युवकों को जीवन-निर्माण में सहायता करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक **लिखी थी,** जो लोकप्रियता के कीर्तिमान स्थापित कर रही है। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। नयी पीढ़ी के मार्गदर्शन **में इसकी उपयोगिता** नि:सन्दिग्ध है। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका सुललित हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

भूमिका

जीवन के लिए कुछ आदर्श बड़े जरूरी हैं, पर आज की शिक्षा-प्रणाली ने उन पर ध्यान नहीं दिया है। आत्मविश्वास तथा उत्साह जगानेवाले इन आदर्शों के प्रति हमारे युवकों की रुचि कैसे बढ़ाई जाय – इस पर मैंने काफी विचार किया है। मुझे स्कूलों तथा कॉलेजों के युवा विद्यार्थियों को सम्बोधित करने के अनेक अवसर मिले और मुझे अनुभव हुआ कि उन्हें केवल सिद्धान्तों का उपदेश देने के स्थान पर, दृष्टान्तों के द्वारा सहज ही महत्वपूर्ण सत्यों को हृदयंगम कराया जा सकता है। आज की शिक्षा तथ्यों के संग्रह पर बल देती है, पर युवकों के चरित्र-गठन में विफल सिद्ध होती है। इस कारण हमारे युवक आध्यात्मिक दृष्टि से सशक्त, साहसी, निर्भय तथा ईमानदार बनाने के साधनों से वंचित रह गये हैं। अध्ययन के द्वारा केवल बुद्धि ही तीक्ष्ण होती है। तो क्या हमारे मन:संयम तथा हृदय के विकास हेतु भी वैसा ही प्रशिक्षण नहीं होना चाहिए? हमारे बुद्धिजीवी अब तक चरित्रगठन-विषयक कोई रचनात्मक योजना नहीं दे सके हैं। कहावत है – "सैकड़ों सलाहों से एक सत्कर्म भला।" सफल व्यक्तियों के लाभकारी अनुभव तथा घटनाएँ, रोचक तथा महत्वपूर्ण होने के साथ ही चरित्र-गठन में भी सहायक होती हैं। पश्चिमी देशों में सच्ची घटनाओं तथा अनुभवों पर आधारित अनेक पुस्तकें निकली हैं, जो हमारे युवकों को प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्रदान कर सकती हैं।

ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो निर्बल तथा आत्मविश्वास-हीन युवकों को निन्दा, दोषारोपण तथा डाँट-फटकार के द्वारा सुधारने की चेष्टा करते हैं। बुद्धिमान होते हुए भी, उन्हें बोध नहीं हो पाता कि एक युवक के स्वाभिमान को क्षति पहुँचाकर वे उसके जीवन का सत्यानाश कर डालते हैं। उन लोगों ने अब तक इस समस्या को हल करने का कोई सच्चा प्रयास भी नहीं किया है। वैसे गलत-मार्ग पर चलनेवालों को डाँटने और यहाँ तक कि दण्ड देने की भी जरूरत हो सकती है, पर इसी को सभी समस्याओं का एकमात्र हल नहीं माना जा सकता। युवकों की उग्रतापूर्वक निन्दा तथा शब्द-प्रहार करने अथवा निकम्मा बताने के स्थान पर उन्हें जिन चीजों की आवश्यकता है, वे हैं – उचित विचार, प्रेरक दृष्टान्त और सही मार्गदर्शन। हमारे युवकों को परेशान कर रही इन समस्याओं का हल ढूँढ़ने का प्रयास ही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

यदि युवक राष्ट्र की सम्पदा हैं, तो क्या उनमें ऐसे राष्ट्र-निर्माता भी हैं, जो अन्य राष्ट्रों के बीच उसका सिर ऊँचा कर सकें? जो शिक्षा उन्हें दी गई है, उसकी सहायता से क्या वे अपनी तथा देश की रक्षा करने में समर्थ हैं? क्या उनके मन में शताब्दियों से दलित तथा शोषित करोड़ों निर्धन लोगों के बारे में भी थोड़ी चिन्ता, सद्भाव तथा सहानुभूति है, जिनके श्रम से उन्हें शिक्षा, व्यवसाय तथा अन्य सुविधाएँ पाने का अवसर मिला है? कम-से-कम क्या उन्हें अपने क्षेत्र में कुछ कर दिखाने की तीव्र इच्छा है? क्या शिक्षा से उनमें ईमानदारी तथा जवाबदेही के गुण आये हैं? जो शरीर से निर्बल और आराम तथा विलासिता के दास हैं, जो आलसी व परोपजीवी है, जो राष्ट्र का रक्त चूस रहे हैं, ऐसे युवकों से राष्ट्र क्या अपेक्षा कर सकता है? हमारे युवकों में परिश्रम के प्रति स्वाभाविक प्रेम का उदय क्यों नहीं हुआ? मजबूरी-वश जैसे-तैसे और अनमने भाव से काम करने में भला क्या प्रशंसनीय है? स्वार्थ की तीव्र धारा में बहते हुए पतन की खाई की ओर बढ़ रहे युवकों को रोकने में सक्षम क्या कोई सिद्धान्त या समाधान नहीं है?

युवक ही राष्ट्र के उत्साह, ऊर्जा तथा आशा के प्रतीक हैं। यदि हम उनकी इस अदम्य शक्ति को उचित तथा उपयोगी दिशा में न लगा सके, तो हमारी सारी राष्ट्रीय योजनाएँ व्यर्थ हो जाएँगी। जनता के धन तथा कठिन परिश्रम के फल से शिक्षा पाये युवकों का मन आज किस ओर अग्रसर हो रहा है? क्या उनके मन में श्रम के प्रति सम्मान का भाव है? पढ़-लिखकर, परीक्षा पास करके काम-धन्धे में लग जाने या धन कमाना शुरू कर देने पर शिक्षक व माता-पिता अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। बच्चे उत्तम गुण अर्जित करके अच्छे इन्सान बन रहे हैं या नहीं – इसकी किसी को चिन्ता नहीं।

रूसी शिक्षाशास्त्री सुखोम्लिस्की कहते हैं, "श्रद्धा व आत्मविश्वास के अभाव तथा आत्मसंशय से अकर्मण्यता व आलस्य की उत्पत्ति होती है, जो विनाश के मार्ग पर ले जाती है।" वे और भी कहते हैं, "कर्तव्य-प्रेम एक नैतिक गुण है, जो समुदाय में ही फलता है। कार्य के प्रति समुदाय का जितना ही अधिक सम्मान होगा, प्रत्येक छात्र के गठन में यह उतना ही प्रभावशाली होगा।" कहावत है कि यदि मनुष्य को शेर न बनने दिया गया, तो वह लोमड़ी बन जायेगा। आज की स्थिति में यही सत्य है। सुखोम्लिस्की ने तो यह बात स्कूली बच्चों के सन्दर्भ में कही थी, पर भारत में तो यह दोष किशोर वय के बालक-बालिकाओं तथा युवाओं में भी है। इसका एक कारण यह है कि हमारा देश लम्बे अर्से तक औपनिवेशिक सत्ता के अधीन दासता में रहा है। दूसरा कारण यह है कि समाज के उच्च वर्ग के लोगों तथा बुद्धिजीवियों ने पिछड़े तथा दलित वर्गों के उत्थान के लिए सच्चे हृदय से

प्रयास नहीं किया। हमारे दूरदृष्टिहीन नेता 'आग लगने पर कुआँ खोदने' की कहावत को चरितार्थ करते हुए केवल तात्कालिक समस्याओं का हल ढूँढ़ने में लगे रहे।

युवको की समस्याओं का हल है – उनके आत्मविश्वास की पुन: स्थापना का मार्ग दिखाना। इससे केवल व्यक्ति ही नहीं, बल्कि समाज भी उपलब्धियों की ऊँचाइयों पर पहुँचता है। जब कोई व्यक्ति अपनी अपार क्षमता के प्रति सजग हो जाता है और जान लेता है कि वह स्वयं ही अपने भविष्य का निर्माता है, तब वह जीवन में वैसे ही उठने का प्रयास करता है, जैसे धरती पर गिरा हुआ मनुष्य उठने के लिए धरती का ही सहारा लेता है। आशा है इस पुस्तक में दिये गये दृष्टान्त तथा विचार कुछ हद तक हमारे युवा तथा वयस्क लोगों और समाज में भी आवश्यक परिवर्तन लाने में सहायक होंगे।

हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के अनेक नेताओं का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत के पास पूरी दुनिया के लिए एक आध्यात्मिक सन्देश है। गाँधीजी ने यह सन्देश अपने जीवन में अपनाया और स्वदेश-वासियों को राष्ट्रहित के लिए निष्काम सेवा की प्रेरणा दी। स्वाधीनता-संग्राम जनता के धर्म तथा संस्कृति के संरक्षण और उनका सुख तथा कल्याण सुनिश्चित करने की उदात्त भावना से शुरू हुआ था। इस आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में ही स्वामी विवेकानन्द ने लोगों का आह्वान किया कि वे अपने महान् ऋषियों द्वारा प्रदत्त सार्वभौमिक तथा शाश्वत सत्यों पर आधारित उन सच्चे धार्मिक आदर्शों को अपनायें, जिसमें सभी धर्मो का सम्मान होता है। जीवन का सच्चा दर्शन प्रत्येक मानव में निहित दिव्यता, ब्रह्माण्ड की अखण्डता, सभी धर्मों की मूल एकता तथा मानवरूपी ईश्वर की सेवा के सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर आधारित है। वस्तुत: जीवन तथा अस्तित्व- विषयक मूल प्रश्नों का यही उत्तर हैं। अत: ये सत्य हर स्थान तथा काल के लिए प्रयोज्य हैं। स्वामी विवेकानन्द ने बताया था कि कभी-न-कभी इन महान् विचारों का प्रभाव सारे विश्व में फैलेगा। इस शताब्दी के मध्य में सुविख्यात इतिहासकार अर्नाल्ड टायन्बी ने भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि भारत अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करेगा, लेकिन राजनैतिक रूप से नहीं बल्कि सांस्कृतिक रूप से; जैसा कि स्वामीजी ने संकेत दिया था। यदि हम आधुनिक आविष्कारों के प्रकाश में इन विचारों की परीक्षा करके इनका सत्यापन कर सके, तो यह हमारे ज्ञान में एक नया आयाम जोड़ेगा। इसके साथ ही हमें चरित्र-गठन के मूल-तत्त्व भी प्राप्त हो जाएँगे, क्योंकि मानव के सच्चे स्वरूप के आलोक में ही शिक्षा की वास्तविक समस्या का समाधान होगा।

देश में अनेक लोगों के पास रहने को घर तक नहीं है। उनका जीवन सुखी तथा सुरक्षित होना चाहिए। शताब्दियों की दासता के फलस्वरूप खोया हुआ उनका व्यक्तित्व उन्हें वापस दिलाना होगा। इस विषय में शिक्षित लोगों को एक महान् भूमिका निभानी होगी और युवकों का योगदान और भी महत्वपूर्ण होगा। मात्र भौतिक सहायता ही विश्व की व्याधियों का उपचार नहीं है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "देश के प्रत्येक घर को हम सदावर्त में भले ही परिणत कर दें, सारे देश को अस्पतालों से भर दें, परन्तु जब तक मनुष्य का चरित्र नहीं बदलता, तब तक दु:ख-क्लेश बना ही रहेगा।" अत: केवल घरों की छतें उठाकर ही नहीं, बल्कि लोगों के मनों को उठाकर ही हम मानव-जाति की सर्वोच्च सेवा कर सकेंगे। यह पुस्तक इसी दिशा में एक लघु रचनात्मक प्रयास है।

अध्याय १

छिपा हुआ सत्य

कितना अद्‌भुत, कितना सत्य!

यह घटना भूमध्यसागर के सिसली द्वीप की है। अपराह्न के समय गर्मी थोड़ी कम हुई थी। सड़क पर अपने काम-धन्धों में व्यस्त लोगों तथा व्यापारियों का जमघट लगा था। अचानक एक जोर की आवाज सुनाई दी, "मिल गया, मिल गया।" एक नंगा आदमी सड़क के बीचो-बीच दौड़ रहा था। वह इतना आनन्दविभोर था कि उसे जरा भी बोध नहीं था कि उसके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है। लोगों की भीड़ विस्मय तथा अचम्भे के साथ उसे इस प्रकार दौड़ते देख रही थी।

कौन था वह? वह कोई साधारण मनुष्य नहीं, बल्कि एक महान् वैज्ञानिक था, जिसने कभी कहा था कि यदि उसे दृढ़ता के साथ खड़े होने को एक स्थान मिल जाए, एक यथेष्ट लम्बा उत्तोलक और समुचित टेक मिल जाय, तो वह पृथ्वी को उसके स्थान से उठा देगा। उसका नाम आर्किमिडीज था। उस दिन "मिल गया, देख लिया" चिल्लाता हुआ वह भीड़-भरी सड़क पर नंगा क्यों दौड़ा? उसने ऐसा क्या देखा था? बात यह हुई कि सिराक्यूज के राजा हेरो ने स्वर्णकार को सोने का एक मुकुट बनाने को कहा था। उसके मुकुट बनाकर लाने पर राजा को सन्देह हुआ कि कहीं इसमें खोट तो नहीं मिला है। उन्हें किसी गवाह पर विश्वास नहीं था। दरबार के विद्वानों के समक्ष यह चुनौती थी कि वे स्वर्ण की शुद्धता को प्रमाणित करें और आर्किमिडीज ने इसे स्वीकार कर लिया था।

आर्किमिडीज ने घर लौटने के बाद इस समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया। इसने अपने मन को एकाग्र करके इस विषय पर गहन चिन्तन में डूब गया और पदार्थ के गुणों के बारे में सोचने लगा। स्नान के लिए तैयारी करते हुए भी उसका मन इसी पहेली का हल ढूँढ़ने में ही व्यस्त था। पानी से भरे हुए टब में उतरते समय वह फिसलकर उसी में गिर पड़ा। टब में लबालब भरा हुआ पानी किनारों से होकर बहने लगा। उसके मन में एक विचार कौंध गया। वह 'विस्थापन' तथा 'आपेक्षिक घनत्व' के सिद्धान्तों का आविष्कार कर चुका

था, जिसके द्वारा वह जाँच कर सकता था कि राजमुकुट शुद्ध सोने का है या मिलावटी। इस खोज पर परम हर्षित होकर वह टब से बाहर कूदा और "मिल गया, मिल गया"– चिल्लाता हुआ भागा। उसे यह होश नहीं रहा कि वह निर्वस्त्र है।

आर्किमिडीज ने इस समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए उस पर पूर्ण एकाग्रता के साथ चिन्तन किया था। इस कठिन प्रश्न का समाधान पाने के प्रयास में उन्होंने अपने मन की सारी शक्तियाँ लगा दी थीं। उन्होंने दिन-रात उसी पर विचार किया था। अन्ततः इस खोज के आनन्द से वह इतना भावविभोर हो गया कि उसे बाकी किसी भी चीज की सुध नहीं रही। परिश्रम का फल ऐसा ही होता है। सुप्रसिद्ध अमेरिकी मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने एक बार कहा था, "जब सारा मन एकजुट होकर कार्य करता है, तभी जीवन में कुछ उपलब्धि होती है।" आर्किमिडीज ने जीने की यही कला अपनायी थी।

मूर्तिमन्त ऊर्जा

कन्नड़ भाषा में 'बाल प्रपंच' नामक ३००० पृष्ठों का एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें बालकों के लिए उपयोगी असंख्य बातें मुद्रित हैं। इसे केवल तीन महीनों में लिखा गया था। जानते हो इसे किसने लिखा?

किसी विश्वविद्यालय के स्नातक या बड़े पण्डित ने नहीं, बल्कि इसके लेखक कर्नाटक के निवासी एक भारतीय हैं। उन्होंने किसी विश्वविद्यालय में कदम नहीं रखा और न ही वे अध्ययन या शोध के आधुनिक साधनों से परिचित हैं। माध्यमिक स्कूल में शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने उच्चतर विद्यालय में कुछ महीने अध्ययन किया। परन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा किसी भी ग्रैजुएट की कल्पना के परे थी।

और फिर यही ग्रन्थ उनकी इकलौती रचना नहीं है। उपन्यास, निबन्धों के अनुवाद, यात्रा-वृतान्त, व्यंग्य, नाटक, गीति-नाट्य, लघु कथाएँ, यक्षगान व मूर्तिकला पर ग्रन्थ, पाठ्य-पुस्तकें, शब्दकोश तथा विज्ञान-विश्वकोष आदि के रूप में चार सौ से भी अधिक कृतियाँ उनकी लेखनी से निकलीं। वे केवल साहित्य में ही नहीं; बल्कि सामाजिक, राजनीतिक तथा रंगमंच और चलचित्रों से जुड़ी समस्याओं तक में रुचि रखते थे। इन महान् व्यक्ति का नाम है कोटा शिवराम कारन्त, जिन्हे भारत का सर्वोच्च ज्ञानपीठ पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था।

क्या यह आश्यर्य की बात नहीं है कि जिन योजनाओं को रूपायित करने के लिए विशाल संस्थाओं की जरूरत होती है, उन्हें केवल एक ही व्यक्ति ने पूरा कर दिया? उनकी इस अदम्य ऊर्जा का रहस्य क्या है? – इस प्रश्न के समाधान हेतु मैंने कारन्त से पूछा, "आपकी इस महान् ऊर्जा और आपके इस चमत्कार-तुल्य अद्भुत कर्मोद्यम का क्या रहस्य है?"

उन्होंने उत्तर दिया, "रहस्य कुछ भी नहीं है। मैं कार्य में लगा रहता हूँ। कार्य ही आनन्द देता है और वही प्रेरणा तथा उत्साह भी प्रदान करता है। बस।"

हाँ, कारन्त अपने कार्य में ऐसे ही उत्साह के साथ लगे रहते हैं। वे उसी में डूब जाते हैं और कार्य का आनन्द ही उन्हें कार्य करने की शक्ति तथा उत्साह प्रदान करता है।

परिश्रम से प्रतिभा का विकास

विश्व-इतिहास पर निगाह डालने पर तुम पाओगे कि जिन लोगों ने भी महान् कार्य सम्पन्न किये हैं, उन्होंने कठोर परिश्रम के द्वारा ही ऐसा किया है। वे लोग पूरी तौर से अपने कार्य में तल्लीन रहे। ऐसे कार्य ने उन्हें असीम आनन्द तथा सन्तोष प्रदान किया और इसी ने उन्हें शक्ति तथा आत्मविश्वास दिया।

दो हजार से भी अधिक आविष्कार करनेवाला असाधारण प्रतिभा का धनी टॉमस एल्वा एडीसन कहता था, "आविष्कार संयोग से नहीं, अपितु अथक प्रयास के फलस्वरूप होते हैं।"

एक प्रतिशत प्रेरणा और निन्यानबे प्रतिशत श्रम के योग को प्रतिभा कहते हैं। सच्ची सफलता एवं अथक परिश्रम के बीच चोली-दामन का नाता है। कठोर परिश्रम करके भी कोई असफल हो सकता है, पर सच्चे प्रयास के बिना कोई श्रेष्ठता नहीं प्राप्त कर सकता। स्मरण रहे कि केवल सतत प्रयास के द्वारा ही हम मूल्यवान लक्ष्यों को पा सकेंगे। शब्दकोश में भी 'कार्य' के बाद ही 'सफलता' देखने को मिलती है।

एक महापुरुष ने कहा है, "एक विचार लो; उसी को अपना जीवन बनाओ – उसी का चिन्तन करो, उसी के स्वप्न देखो और उसी में जीवन बिताओ। तुम्हारा मस्तिष्क, स्नायु तथा शरीर के सभी अंग उसी विचार से पूर्ण रहें। दूसरे सारे विचार छोड़ दो। सफलता का यही उपाय है और इसी उपाय से बड़े बड़े धर्मवीरों की उत्पत्ति हुई है।" प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से भिन्न है, अतः अपनी योग्यता को सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम सभी एक महान् वैज्ञानिक बनने का प्रयास करें। इसकी जगह, हम उनके कर्मोद्यम से प्रेरणा लेकर अपने अपने क्षेत्र में उत्कृष्टता प्राप्त करने का प्रयास करें। नकल करने से कोई महान् नहीं बनता। महापुरुषों से प्रेरणा लेकर भी तुम्हें अपनी प्रकृति के अनुसार ही उन्नति करनी है।

वस्तुतः बोल-चाल, रुचि-अरुचि, कुशलता तथा क्षमता में हम सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं। हमें किसी की नकल करने की जरूरत नहीं। परन्तु क्या हम कार्य में सफलता अर्जित कर सकते हैं? क्या हम सदा-सर्वदा अपना तीव्र उत्साह बनाए रख सकते हैं? क्या हम साहस तथा विश्वास के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकते हैं? क्या हम पराजय की आशंका से उत्पन्न भय पर विजय प्राप्त कर सकते हैं? क्या हम अपनी पराधीनता, गुलामी तथा हीनता के भाव को दूर कर सकते हैं?

धर्म, कला, साहित्य, कृषि या विज्ञान – प्रत्येक क्षेत्र में केवल निरन्तर प्रयासों से ही सर्वोच्च उपलब्धि हो सकती है। हमारे ज्ञान-भण्डार को समृद्ध करनेवाले सभी लोगों ने कठोर परिश्रम के महत्व तथा गौरव को रेखांकित किया है। उनकी तीव्र आकांक्षा, कर्मोद्यम, मानसिक एकाग्रता तथा सफलता की

ऊँचाइयाँ ही किसी भी क्षेत्र में कार्यरत लोगों को लिए प्रेरणा के स्रोत हैं । यदि हम अपने प्रयासों में सफलता चाहें, तो हमें उनको अपना आदर्श बनाकर आनन्द तथा उत्साहपूर्वक कार्य करते हुए साहस व उमंग के साथ आगे बढ़ना होगा ।

परिश्रम से श्रेष्ठता की प्राप्ति

मैं एक ऐसे युवक को जानता हूँ, जो प्रतिदिन आठ घण्टे से भी अधिक परिश्रम करता था और सारे दिन के परिश्रम के बाद प्रसन्न-चित्त से घर लौटता था । परिश्रम के कारण उसकी प्रसन्नता मे कभी ह्रास आते नही देखा गया । वह अपने कार्यालय से ३ कि.मी. दूर स्थित गाँव के एक छोटे-से घर में रहता था । उसके पास जीवन की आधुनिक सुविधाएँ नहीं थीं, कार्य के बाद वह पैदल ही घर लौटता था । वह प्रतिदिन एक-दो घण्टे अध्ययन करता था । कॉलेज में प्रवेश से वंचित रह जाने के कारण उसने प्राइवेट परीक्षा पास करके विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त की । उसके कार्यालय के अधिकारियों या सहकर्मियों में से किसी को भी उसकी आलोचना या उस पर क्रोध करने का अवसर नहीं मिलता था । सभी उस पर विश्वास करते थे तथा उसे आदर की दृष्टि से देखते थे । 'विद्या ददाति विनयम् – ज्ञान से विनम्रता आती है' – यह उक्ति उस पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती थी । अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए वह किसी के सामने झुका नहीं । अपनी जरूरतों की पूर्ति के लिए उसने किसी अनुचित मार्ग का आश्रय नहीं लिया । वह शुद्ध हृदय का था । अपनी कर्म-कुशलता, समयबद्धता, धैर्य तथा कार्य में अनन्त उत्साह के गुणों के फलस्वरूप वह एक अत्यन्त सम्मानित संगठन में बहुत ऊँचे पद पर पहुँचा । अपने अधीनस्थ कर्मियों के प्रति उसका व्यवहार उदारता एवं सहयोगपूर्ण था, परन्तु साथ ही वह इतना कठोर भी था कि कोई उसकी सज्जनता का गलत लाभ न उठा सके । वह न्याय के लिए लड़ता था और दुष्ट-शक्तियों के सामने नहीं झुका ।

आज वह तीन बच्चों का पिता है, आत्मसंयमी है और किसी व्यसन में नहीं पड़ा । अपने अनेक मानव-बन्धुओं को राहत पहुँचाने से सन्तुष्ट चित्तवाले इस अथक ऊर्जावान व्यक्ति के चेहरे पर मैंने आन्तरिक शान्ति की आभा देखी । उससे भेंट होने पर मैंने पूछा, "जीवन में तुम्हारी सफलता का क्या सिद्धान्त रहा? तुम्हारे कार्य के क्या विशेष गुण थे? तुमने जीवन की समस्याओं का कैसे सामना किया?"

उसने कहा, "मुझे नहीं लगता कि मुझमें कोई विशेष गुण हैं । शायद यह सब ईश्वर की कृपा से हुआ । पर इतना मैं जरूर कह सकता हूँ कि मेरे माता-पिता ने सदा ही प्रत्येक कार्य को पूरी निष्ठा तथा सच्चाई के साथ करने को कहा था । बचपन से ही मुझे जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ी थीं । यदि मैं अपने उत्तरदायित्व ठीक ठीक नहीं निभाता, तो सभी मुझे बुरा-भला कहते । यद्यपि मार्ग में प्रलोभन तथा आकर्षण भी आये, परन्तु निन्दा तथा अपमान के भय से मैं बच गया । फिर एक वृद्ध भी मुझसे बार बार कहते थे, "यदि तुम अपना कार्य ठीक से करना सीख लो, तो तुम्हें किसी से डरने की जरूरत नहीं ।" जब मैंने कुछ लोगों को कहते सुना कि लड़का अच्छा काम करता है, तो इससे मुझे अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन भी मिला । तब से मुझे विश्वास हो गया कि जो व्यक्ति अपना कार्य निष्ठा व लगन से करता है, उसके भीतर आत्मविश्वास की प्रचण्ड शक्ति आ जाती है और उसके व्यक्तित्व का विकास होने लगता है । उसे दूसरों का मार्गदर्शन तथा सहायता करने के मौके मिलते हैं । अपने मनोबल के कारण वह असफलता से निराश नहीं होता । अत: उसके लिए सहज ही उच्च पदों का द्वार खुल जाता है । छोटी-सी उन्नति या उपलब्धि भी उसे आगे बढ़ाती है । यदि गर्व, अहंकार और धृष्टता उसे नीचे नहीं गिराते, तो कभी-न-कभी उसे संगियों, अधिकारियों तथा जनता से सम्मान मिलता ही है । वे खुले-आम इसे भले ही व्यक्त न करें, परन्तु अपने व्यवहार से तो जता ही देते हैं । इससे दिन-पर-दिन हमारी कार्य-कुशलता बढ़ती जाती है ।"

मैंने पूछा, "सुना है कि परिश्रमी लोगों पर ही काम का बोझ लादा जाता है ।"

उसने उत्तर दिया, "यह ठीक है कि यदा-कदा ऊपरवाले अतिरिक्त कार्य थोप देते हैं, परन्तु आरम्भ में इस थोड़ी-सी असुविधा को सहने के लिए तैयार रहना पड़ता है । कभी कभी लग सकता कि हमें दबाया जा रहा है, पर यदि हम धैर्य रखें तथा इसे अपनी अध्यवसाय व सहनशीलता के लिए चुनौती मानें, तो मुझे लगता है कि हमें सफलता ही मिलेगी ।

"इस दौरान मैंने कर्म के एक दर्शन का विकास किया है । कर्म केवल जीवन-निर्वाह का उपाय नहीं, बल्कि हृदय के विशुद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति में आनेवाली बाधाओं को दूर करने का एक साधन है । हमारा चाहे जो भी पेशा हो, यदि हम पूरी एकाग्रता के साथ अपना कार्य सम्पन्न करें, तो वह हमें सन्तोष तथा आनन्द प्रदान करता है । वेतनमान में वृद्धि ही कार्य के उच्च स्तर तथा उसमें सफलता को प्रोत्साहित करने का एकमात्र उपाय नहीं है । कर्म के प्रति दृष्टिकोण तथा उसके सम्पादन में निपुणता ही उसके स्तर में सुधार लाता है । जब हमें बोध होगा कि पूर्ण एकाग्रता के साथ किए गए कर्म के फलस्वरूप सच्चा सुख मिलता है, तब हम छोटे-से-छोटे कार्य की भी अवहेलना नहीं करेंगे, बल्कि उन्हें निष्ठा और ईमानदारी के साथ पूरा करेंगे ।"

मैंने पूछा, "क्या यह दर्शन नीरस तथा उबाऊ कार्य पर भी लागू होता है? रचनात्मक कार्यों से तो आनन्द व प्रेरणा मिलती है, परन्तु यंत्रवत् कार्य से भी क्या इसकी प्राप्ति सम्भव है?" उसने उत्तर दिया, "मुझे नहीं लगता कि कोई ऐसा भी कार्य है, जो पूर्णत: रचनात्मक तथा उबाऊपन से मुक्त हो । प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति के रचनात्मक कार्य – उसकी हर कलाकृति के पीछे कुछ-न-कुछ प्रयास तथा किसी-न-किसी

प्रकार का संघर्ष विद्यमान रहता है । यह सर्वविदित है कि यदि हम कोई आवश्यक कार्य ठीक से नहीं कर पाते, तो हमें असन्तोष होता है । सफल न होने का दु:ख मन को तोड़ देता है । कार्य चाहे जितना भी उबाऊ क्यों न हो, जब हम ठीक से सम्पन्न कर लेते हैं, तो हमें शान्ति, सन्तोष तथा विश्रान्ति की अनुभूति होती है । यही सबका अनुभव है ।''

क्या तुमने अपने कार्य भलीभाँति करने की आदत डाली है? यही आदत तुम्हारे बल व उत्साह में वृद्धि करेगी । कार्य में उत्कृष्टता आने पर तुम्हारे पूरे व्यक्तित्व का विकास होगा ।

साधारण से श्रेष्ठता की ओर

सर विलियम ऑस्लर कनाडा के एक विख्यात् चिकित्सक थे । छात्र-जीवन में वे चिन्ता तथा तनाव से त्रस्त रहते थे । जब वे माण्ट्रियल के सार्वजनिक चिकित्सालय में पढ़ते थे, तब उन्हें भविष्य की चिन्ता बहुत सताती थी । वे चिन्ता, संशय तथा अनिश्चय से आच्छन्न रहते थे । अन्तिम परीक्षा के लिए उन्हें जो पुस्तकें पढ़नी थीं, उनका आकार देखकर ही वे घबड़ा गये । उन्हें लगा कि शायद वे उन्हें पूरा नहीं पढ़ सकेंगे, लगा कि परीक्षा के लिए इतनी सारी बातों को वे कैसे याद कर सकेंगे? यदि परीक्षा पास भी कर ली, तो नौकरी कहाँ मिलेगी? क्या निजी व्यवसाय करना पड़ेगा? उसके लिए भी तो पूँजी तथा भाग्य चाहिए । इस भीषण स्पर्धापूर्ण संसार में सफलता कैसे मिलेगी? इस प्रकार वे जीवन के प्रति चिन्ता व सन्देह में पड़े रहते थे । पर संयोगवश पढ़ी हुई कार्लाइल की इस उक्ति ने उनकी जीवनधारा को मोड़ दिया – ''हमे दूर की अस्पष्ट वस्तु को छोड़ समीप की स्पष्ट वस्तु को ही देखना चाहिए ।'' इससे वे पतन की गहराई से निकले और उनके हृदय में ऐसी प्रेरणा जगी, जो उनके असाधारण मानव बनने के लिए जरूरी थी । उन्होंने अनेक साहसिक कार्य किये । वह उक्ति उनके जीवन की सफलता में एक जादुई मंत्र बन गया ।

बाद में उन्होंने सुप्रसिद्ध जॉन हाप्किन्स संस्थान को बहुमुखी विकास के शिखर पर पहुँचाया । वे चार विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक रहे । बाद में वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के आयुर्विज्ञान विभाग के अवकाश-प्राप्त प्राध्यापक हुए । ब्रिटिश सरकार ने उन्हें अनेक सम्मानों से भूषित किया ।

विलियम ऑस्लर ने येल विश्वविद्यालय के छात्रों के समक्ष बोलते हुए कहा था, ''लोकप्रिय लेखक तथा आक्सफोर्ड जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के वरिष्ठ आचार्य के रूप में मेरी ख्याति सुनकर तुम लोग सोचते होगे कि मैं जन्म से ही बुद्धिमान हूँ, परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है । मेरे घनिष्ठ मित्र जानते हैं कि मेरी बुद्धि कितनी सामान्य है ।''

रहस्य

तब उसकी चकित करनेवाली सफलता का रहस्य क्या था? ऑस्लर ने कहा कि वह सदा ही वर्तमान में रहता था । इसका अर्थ क्या है? भविष्य के सुखद स्वप्नों में वह समय नष्ट नहीं करता था । अतीत के क्षणों को बार बार सोचकर व्यर्थ पछताने में उन्होंने समय नहीं खोया ।

अत्यन्त कौशल तथा पूर्णता से वर्तमान के कार्य को पूरा करने में उन्होंने अपने मन को लगाया । उसने उन्हें अद्वितीय कीर्ति एवं विजय दिलाई ।

ऑस्लर के शब्द ध्यान देने योग्य हैं : हमारे भविष्य का निर्माण आज हो रहा है । कल की घटनाओं पर पछताने से कोई लाभ नहीं है, न ही भविष्य की घटनाओं की अत्यधिक चिन्ता करो । भूत एवं भविष्य के द्वार बन्द कर दो । अपना कार्य वर्तमान में करो, साहस तथा विश्वास सहित कार्यक्षेत्र में उतरो । इसी क्षण कार्य करो ।

''आज का काम भलीभाँति सम्पन्न करने के अतिरिक्त बाकी समस्त महत्वाकांक्षाओं का त्याग कर दो । सफलता के मार्ग पर चलनेवाले वर्तमान में जीते हैं, कल की नहीं सोचते, न तो भूत में रहो और न ही भविष्य में, सारी शक्ति आज के कार्य में लगा दो तथा इस प्रकार अपनी सारी महत्वाकांक्षाएँ पूरी कर लो ।''

इस शताब्दी में ऑस्लर ने जो कहा, हजारों वर्ष पूर्व भारत के ऋषियों ने उसे जाना था । इस सन्देश को हम भूल गए । ज्ञान के इन शब्दों को भुलाकर जीवन में हम अनेक अवरोध एवं असफलताएँ पाते हैं । उनका अनुसरण न करने से जीवन में अन्य कष्ट आते हैं । वे शब्द हैं – ''बुद्धिमान लोग अतीत की घटनाओं पर नहीं पछताते, वे भविष्य की चिन्ता नहीं करते, केवल वर्तमान जगत् में पूर्णतया कर्म करते हैं ।''

संत कवि हरिदास ने कहा है, ''आज का दिन सर्वोत्तम है, कल का दिन कठिन होगा ।'' अंग्रेज-विद्वान् रस्किन ने अपने कार्यपटल पर 'आज' लिख रखा था । उनका कहना है, ''आज की चिन्ता कर लो, वही कल को सँभालेगा ।'' उमर खय्याम ने कहा, ''अतीत मृत है, आनेवाले कल का जन्म नहीं हुआ है । आज के सुखद होने पर भी तुम रोते क्यों हो?'' इन विभिन्न वचनों का मर्म एक ही है, ''वर्तमान के कार्यों को पूरा करने में ही स्वयं को लगाना आवश्यक है ।''

यदि हम वर्तमान में रहें, तो कल उसकी याद सुखद होगी और वह मन को तुष्ट करेगी और भविष्य में अच्छा कार्य करने की प्रेरणा भी देगी । भविष्य तो हमसे दूर है, वर्तमान ही हमारे पास है, इसी को हमें हर प्रकार से फलीभूत करना चाहिए ।

किसी भी विचारशील मन में ऐसे कई प्रश्न उठते हैं – ''तो क्या हम भविष्य की ओर बिल्कुल भी ध्यान न दें? जीवन-यात्रा में अब तक की घटनाओं का सिंहावलोकन क्या बिल्कुल निरर्थक है? अपने भविष्य-निर्माण के लिए क्या हमें पहले से ही तैयारी नहीं करनी चाहिए?'' आदि आदि ।

□ (क्रमश:) □

संक्रान्ति का प्रतीकात्मक अर्थ

भैरवदत्त उपाध्याय

पर्व का अर्थ है आनन्द। आनन्द ही मनुष्य का मूल है। वह उसी से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होता है। तैत्तिरीय उपनिषद (३/६) का मत्र है – **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति** – ''आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द के द्वारा ही ये जीवित रहते है और आनन्द की ओर ही प्रयाण करते हैं और अन्त में उसी में समा जाते हैं।''

इससे स्पष्ट है कि मनुष्य आनन्दधर्मी होने के नाते उत्सवधर्मी है। उत्सवों और पर्वों से आनन्द की प्राप्ति होती है। उसकी सामाजिक चेतना का विकास होता है। वैयक्तिक चेतना को तृप्ति मिलती है। व्यष्टि और समष्टि के रूपों में वह इनसे बँधा होता है। उसके मन को सस्कार मिलते हैं। जिनसे उसके 'सामूहिक अचेतन मन' का सृजन होता है और फिर इसी 'सामूहिक अचेतन मन' से उत्सवों की भागीरथी का निर्गम होता है। पर्वों की शृखला जुड़ने लगती है और इसी शृंखला का एक पर्व है सक्रान्ति।

हिन्दुओं के अनेक पर्वों में मकर-संक्रान्ति का अपना विशेष महत्व है। स्नान-दान-पुण्यादि शुभ कर्मों के लिए यह पवित्र माना गया है। काश्मीर से कन्याकुमारी तक यह अपने विविध रूपों में सम्पन्न होता है। उत्तरी भारत में यह मकर-सक्रान्ति के नाम से प्रसिद्ध है, तो दक्षिण में 'मकरम्' या 'पोंगल' के नाम से प्रचलित है। यों तो ज्योतिष विद्या के अनुसार सूर्य द्वारा वर्ष में १२ राशियों से होकर गुजरने के कारण प्रत्येक माह में सक्रान्ति का पर्व पड़ता है, किन्तु सभी सक्रान्तियों में मकर-सक्रान्ति ही विशेष श्रद्धा-भक्ति के साथ मनायी जाती है। इसके धर्मशास्त्रीय, पौराणिक एवं समाज-शास्त्रीय कारणों के अतिरिक्त आध्यात्मिक प्रतीक भी हैं, जिनसे यह पर्व हमारी सस्कृति की अन्तरात्मा में अनुस्यूत है।

भौतिक अर्थ में एक अवस्था से दूसरी में पहुँचाने की क्रिया का नाम ही संक्रान्ति है और जिस काल में वह सम्पन्न होता है, वह सक्रान्ति-काल या सक्रान्ति-पर्व कहलाता है। भू-विज्ञान की दृष्टि से मकर-सक्रान्ति का तात्पर्य है कि सूर्य मकर-रेखा पर लम्व रूप से प्रकाशित होने के बाद कर्क-रेखा की ओर अग्रसर होने लगता है। जब वह मकर-रेखा पर लम्बरूप से प्रकाशित होता है, तब उत्तरी गोलार्ध में शीतऋतु और दक्षिणी गोलार्ध अर्थात् दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में ग्रीष्म ऋतु होती है। २२ दिसम्बर के दिन सूर्य के मकर-रेखा पर प्रकाशित होने के कारण उत्तरी गोलार्ध के लिए यह शीत-संक्रान्ति या मकर-संक्रान्ति का होता है, क्योंकि इस समय उत्तरी गोलार्ध में दिन छोटा और रात लम्बी होती है तथा दक्षिणी गोलार्ध में ठीक इसके विपरीत २ मार्च को सूर्य भूमध्य रेखा पर आ जाता है। इस समय दोनों गोलार्धों में दिन और रात बराबर होते हैं। दो जून को सूर्य उत्तरी गोलार्ध में कर्क-रेखा पर लम्बरूप से प्रकाशित होता है, तब दक्षिणायन होता है। भारतीय ज्योतिष गणना के अनुसार १५ जनवरी को सूर्य उत्तरायण हो जाता है।

धर्मशास्त्रीय दृष्टि से सूर्य की इन गतियों में उत्तरायण-गति श्रेष्ठ मानी गयी है। चूँकि ससार की गति के शुक्ल तथा कृष्ण – दो रूप अनादि काल से चले आ रहे हैं। इनमें से प्रथम शुक्ल गति से जीव को मोक्ष तथा दूसरे कृष्ण गति से पुनर्जन्म के बन्धनों की प्राप्ति होती है। गीता में कहा गया है –

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥ गीता ८/२६

– शुक्ल अर्थात् देवयान और कृष्ण अर्थात् पितृयान - जगत् के ये दो शाश्वत मार्ग माने गये हैं। इनमें से एक से जानेवाला आवागमन से मुक्त हो जाता है और दूसरे के द्वारा गया हुआ पुनर्जन्म को प्राप्त होता है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ ८/२४-२५

– (मृत्यु के बाद) इनमें से उत्तरायण के छह महीनों वाले शुक्ल, ज्योति या दिन के मार्ग से जाने पर ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और दक्षिणायन के छह महीनों वाले धूम्रमय, रात या अँधेरे के मार्ग से जाने पर सकाम कर्मीगण चन्द्रज्योति को प्राप्त कर पुनः मर्त्यलोक में लौट आते हैं।

इसी बात को प्रश्नोपनिषद (१/९-१०) में इस प्रकार कहा गया है – ''जो लोग इष्ट तथा पूर्त (श्रौत तथा स्मार्त) कर्मों का ही अनुष्ठान करते हैं, उन्हें चन्द्रलोक दक्षिणायन की प्राप्ति होती है, जहाँ से वे पुनः लौटकर आ जाते हैं और तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा से युक्त उपासना के द्वारा आत्मा को खोजकर उत्तरायण मार्ग से सूर्यलोक को प्राप्त करते हैं, वे पुनः लौटकर नहीं आते हैं, क्योंकि वह आदित्य, प्राणों का आश्रय, अविनाशी, निर्भयपद और परमगति है।''

वैदिक विज्ञान की प्रतीकात्मक भाषा में दक्षिणायन और उत्तरायण, संवत्सर के दो अंग हैं - ''संवत्सर रूप काल ही

(शेष पृष्ठ ४२ पर)

आचार्य रामानुज (१)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि वे इस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर यह लेखमाला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा का बोध कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन आरम्भ कर रहे हैं। – सं.)

उत्तरी भारत के बहुत से लोग भगवान रामानुज के बारे में अधिक नहीं जानते। इसका कारण यह है कि इस अंचल में उक्त महात्मा के अनुयायी काफी विरल है। श्री रामानुज के मतावलम्बी जनसमाज में 'श्री-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत आते हैं। दक्षिण में उनका प्रभाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। श्रीरामानुज ने किन सिद्धान्तों के आधार पर अपने धर्ममत का प्रचार किया है, उनके पहले उक्त मत का प्रचार था या नहीं, उनके द्वारा प्रवर्तित पथावलम्बियों को श्री सम्प्रदायी क्यों कहा जाता है, भगवान शंकराचार्य के अद्वैतवाद के साथ उनके मत में समानता है या नहीं – इन सारी बातों से अन्य अंचलों के लोग बहुत कम अवगत हैं। पर समाप्तप्राय वर्तमान बीसवीं शताब्दी के जड़वाद, देहात्मवाद या नास्तिकतावाद का भेदन करते हुए, स्वभाव से ही मत्स्य-मांस-प्रिय, जीव-हिंसा-लिप्त, देह की पुष्टि तथा तुष्टि के साधन में यत्नशील, अत: ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि के उपासक होकर भी वस्तुत: चार्वाक-मत के अनुयाइयों के समूह द्वारा सम्यक् परिवेष्टित होकर भी, जिनके अनुयायी भक्तगण आज भी जीवहिंसा को महान् दुष्कर्म मानते हैं; प्राण-प्रिय प्राणियो का नाशकर अपने प्राण का पोषण करना जिनके भक्त राक्षसी वृत्ति मानकर, इसके अनुष्ठाताओं का संसर्ग भी निर्भयतापूर्वक परित्याग करते हैं; जिनके महान सर्वप्राण हितकामी हृदय का पवित्र प्रतिबिम्ब स्वार्थपरायण, तमसाच्छन्न, देहपरायण मानव-मण्डली के बीच तथा स्वभक्त-वृन्द के हृदय में प्रतिफलित होकर आर्य हृदय के निम्नलिखित उच्छ्वास का अब तक जीवन्त प्रमाण बना हुआ है –

स्वच्छन्दजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे क: कूर्यात्पातकं महत्॥

– "जब वन में सहज-भाव से उत्पन्न शाक से भी उदरपूर्ति की जा सकती है, तो फिर कौन इस जले पेट के लिए महान् पाप में प्रवृत्त हो?" (हितोपदेश, मित्रलाभ, ६८)

जिनका गहन न्यायसंगत युक्तिजाल, अपरिमित मेधासम्पन्न भगवान श्री शंकराचार्य के अकाट्य-युक्तिपूर्ण अद्वैत मत के भी घोर प्रतिद्वन्द्वी के रूप में विराज रहा है; जिनका प्रेमपूर्ण हृदय आब्रह्म-स्तम्ब तक सभी प्राणियों का आश्रय स्वरूप है; जिनके भक्तगण उन्हें राघवानुज भक्तवीर लक्ष्मण की प्रतिमूर्ति मानकर पूजा करते हैं; उन्हीं महानुभाव की जीवनलीला तथा विशुद्ध सिद्धान्त-मंजरी से अपरिचित रहना क्या अत्यन्त अदूरदृष्टि का परिचायक नहीं है? यदि ऐसा ही है, तो क्या वह हेय एवं परित्याज्य नहीं है?

महानुभावों का जीवन सर्वदा दूसरों के लिए समर्पित होता है। वे अपने प्रयोजन सिद्ध करने हेतु भूतल पर अवतरित नहीं होते। उनका हृदय सर्वदा ही दीन, दरिद्र, असहाय जीवों के दु:खनाश की चिन्ता से परिपूर्ण रहता है। इसीलिए उनकी जीवन-कथा का सम्यक् अनुशीलन परम लाभकारी है। समग्र जीवों की मंगल-कामना में निमग्न रहकर, वे लोग कल्याण-प्राप्ति के लिए जिन उपायों का निर्धारण कर गए हैं, उन्हें जान लेने तथा उनके अनुगामी होने पर इस जगत् में परमसुख के साथ जीवन-यापन किया जा सकता है और परलोक का पथ भी निष्कण्टक एवं निर्बाध होकर अन्त में अतुल स्वर्गसुख या मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: कहना न होगा कि इस ऐहिक तथा पारलौकिक मंगलकारी महानुभावों का चरितामृत पान करना बुद्धिमान जनों का परम कर्तव्य है। महामहिम विशाल-हृदय रामानुज इन महानुभावों में अग्रगण्य हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग सत्त्वगुण पर प्रतिष्ठित है। अत: रजस् एवं तमस् प्रधान मार्गों के समान अस्थिर तथा क्षणभंगुर न होने के कारण वह शाश्वत फल उत्पन्न करता है। यदि कोई नित्य परमानन्द का भागी होना चाहे, तो उसे भगवान रामानुज के समान महानुभावों का पदानुसरण करना चाहिए। **'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय'** – इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं।

हम पहले ही कह आए हैं कि उत्तर भारतीय लोग श्री रामानुज के जीवन से अनभिज्ञ हैं और यह अनभिज्ञता अतीव क्षतिकारक है। अत: इस क्षति की पूर्ति हेतु हमने पाठकों को यह अमूल्य निधि उपहार-स्वरूप देने का निश्चय किया है। उनके द्वारा प्रदर्शित पथ धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, उच्च-नीच आदि सबके लिए ही सुगम तथा परम लाभकारी है।

एक बात और। दुरूह एवं दुरधिगम्य उपदेशों को कण्ठस्थ करने की अपेक्षा महापुरुषों की जीवनी पढ़ना अधिक लाभकारी है। इसका कारण यह है कि निरवयव तथापि दुर्ग्राह्य उपदेशों के साधु-जीवन में सावयव अभिव्यक्त होने से वह अतीव सहजग्राह्य हो जाता है और जनसाधारण के लिए आसानी से अनुकरणीय हो जाने के फलस्वरूप वे लोग

अनजाने ही उसका अनुसरण कर साधुता के पथ पर अग्रसर होते हैं और क्रमश: जीवभाव त्यागकर देवत्व का आश्रय लेने के अधिकारी हो जाते हैं। बाल्यकाल से ही हम सुनते आ रहे है कि सत्य बोलना ही मनुष्य का कर्तव्य है। परन्तु हम जिधर भी दृष्टि फिराते है, उधर ही सत्य की अवहेलना देखकर अन्तत: ऐसी धारणा बना लेते हैं कि सत्य बोलने का कर्तव्य केवल अनुशासन-ग्रन्थों में सीमाबद्ध है; व्यावहारिक जीवन में शुद्ध सत्य वाणी का प्रयोग नितान्त असम्भव है। यदि इस जगत मे सत्यमूर्ति महानुभावगण जन्म न लेते, तो उक्त धारणा मानव-हृदय में 'अचल-अटल-सुमेरुवत्' बद्धमूल हो जाती। परन्तु परमपिता, सर्वशक्तिमान परमेश्वर अपनी सन्तानों के प्रति असीम स्नेह दिखाते हुए, बीच बीच में धर्मग्लानि का नाश करने हेतु साधु-विग्रह धारणकर पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। अत: पाठको को अब और समझाने की जरूरत न होगी कि ऐसे साधु-चरित का अनुशीलन करना हमारा परम कर्तव्य है।

भाग-१

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

१. गुरु परम्परा का प्रभाव

भक्तनाम-कीर्तन का माहात्म्य और उसकी प्रणाली

'श्री' सम्प्रदाय के वैष्णव जब रामानुज आदि पूर्व के गुरुओं का नाम-कीर्तन करते हैं, तो उस पवित्र नामावली के प्रभाव से वे लोग अपने को सर्व-कल्मष-रहित देवता के समान पवित्र बोध करने लगते हैं। विश्वासी वैष्णव-हृदय चाहे जितना भी तमसाच्छन्न क्यो न हो, दुख-दुर्दिन-दुर्दशा से तरंगायित संसार समुद्र में चाहे जितने भी उद्विग्न तथा भयभीत क्यों न हों, ज्योही वे इस पवित्र नामावली का स्मरण करते हैं, त्योंही उनके सकल सन्ताप दूर हो जाते हैं। इसका कारण क्या है? श्रीरामकृष्ण ने इस प्रश्न की समुचित मीमांसा की है। कोई कमरा चाहे हजारों वर्ष से ही अन्धकाराच्छन्न क्यों न हो, दियासलाई की एक तीली घिसते ही आलोकित हो उठता है, घनीभूत तमोराशि तत्काल ही विनष्ट हो जाती है; उसी प्रकार किसी अग्नितुल्य पवित्र तथा उज्ज्वल महापुरुष का नाम एक बार भी उच्चरित करने से हृदय की समस्त ग्लानि तुरन्त भस्मसात् हो जाती है। यदि महापुरुषों के नाम का इतना प्रभाव है, तो उनके स्व-स्वरूप का प्रभाव जो अनिर्वचनीय तथा अकल्पनीय होगा, इसे समझने के लिए क्या किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता है?

परन्तु जैसे माचिस की तीली को उल्टी दिशा में घिसने से अन्धकार दूर नहीं हो सकता। सैकड़ों वर्ष तक घिसते रहने पर भी जैसे उसका कोई फल नहीं निकलेगा, वैसे ही महापुरुषो के नाम-स्मरण का भी नियम है, जिसे जाने बिना उससे कोई फल होने की सम्भावना नहीं, बल्कि अन्त में वह नास्तिकता का ही आनयन करता है। वह नियम क्या है? भक्तावतार श्री चैतन्य महाप्रभु ने उसे इन शब्दों विधिबद्ध कर दिया है –

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥[१]

जो अपने को तृण से भी छोटा मानते हैं, जो वृक्ष के समान सहनशील हैं, स्वयं मान के अनिच्छुक होकर भी दूसरों को मान दिया करते हैं, वे ही हरिनाम लेने के उपयुक्त हैं।

"भागवत, भक्त तथा भगवान – ये तीनों ही एक हैं।" अत: हरिनाम-ग्रहण के लिए जो नियम आवश्यक हैं, हरिभक्त महापुरुषों का नाम लेने के लिए भी उन्हीं नियमों का प्रयोजन होता है। भक्त और भगवान में भेद क्यों नहीं हैं? इसलिए कि सच्चे भक्त का हृदय सर्वदा ही हरि का निवास-स्थान है; भक्त उनका आज्ञाकारी दास है। दास के समस्त शारीरिक तथा मानसिक प्रयास प्रभु के ही प्रयास का नामान्तर मात्र है। दास अपने लिए न कुछ करता है, न कुछ सोचता है। उसके समस्त कार्य तथा विचार उसके अपने नहीं, बल्कि प्रभु के हैं। जैसे कि हाथ-पाँव मेरे आज्ञाकारी होने के कारण हाथ-पाँव द्वारा अनुष्ठित सकल कार्य हाथ-पाँव के नहीं बल्कि मेरे माने जाते हैं, वैसे ही भृत्य के कार्य तथा विचार भृत्य के नहीं बल्कि प्रभु के ही मानना उचित है। अत: भक्त और भगवान में भेद कहाँ है? भागवत-पाठ से भगवत्तत्त्व की उपलब्धि होती है। सारे भागवत भी भगवान के ही महिमा-कीर्तन में लगे रहते हैं। इसीलिए भगवान व्यास ने ब्रह्मसूत्र में 'शास्त्र योनित्वात्' (१/१/३) – इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित किया है कि ब्रह्म केवल शास्त्र के द्वारा ही व्यक्त एवं ज्ञात होते हैं। भगवन्मय होने के कारण भागवत भी भगवान का नामान्तरण मात्र है।

जब मानव हृदय अन्धकार से आच्छन्न रहता है, जब सभी विषयों को जानने की इच्छा चित्त पर अधिकार जमाकर उसे चंचल कर डालती है, जब उसी चंचल बुद्धि की सहायता से कुछ इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति के सहज उपाय का आश्रय लेकर मनुष्य अपने को कृतार्थ एवं सर्वज्ञ मानने लगता है, जब वह भौतिक सुखों के जनक आधुनिक विज्ञान तथा दर्शनशास्त्र का पाठ करके अपने को मानव-समाज का नेता और गुरु मानने लगता है, जब अपरा विद्या की माया से मुग्ध होकर उसकी समस्त ज्ञानपिपासा ऐहिक सुखों के सन्धान में ही लग जाती है, जब यह लघुचित्त मानव विद्याभिमान से अहंकारी होकर अपने को गुरुत्व एवं गाम्भीर्य का आदर्श स्वरूप मानने लगता है, तब कहाँ तो उसका अहंकार-मलिन, गर्वस्फीत, दुर्विनीत हृदय और कहाँ धीर-नम्र, निर्मल तथा प्रशान्त-हृदय-ग्राह्य भक्तनाम-कीर्तन? वह व्यक्ति सोचता है, "कोऽन्योस्ति सदृशो मया"[२] मेरे समान और कौन है या मुझसे बड़ा और कौन है!

१. शिक्षाष्टकम्, ३ २. गीता १६/१५

उसके लिए तृण की अपेक्षा लघु होना तथा वृक्ष के समान सहनशील होना किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। वह व्यक्ति स्वयं ही मान-सम्मान के लिए लालायित होता है, यश की पिपासा से उसका कण्ठ सूख रहा होता है। ऐसा मनुष्य भला किस प्रकार दूसरों को मान देगा, या फिर किस प्रकार दूसरों का यश-कीर्तन करेगा?

मनुष्य जब भोग-लिप्सा के हाथ से मुक्त हो जाता है, जब भौतिक सुख उसके चित्त को आकृष्ट करने में असमर्थ हो जाते हैं, अत: जब संसार से परे, वाक्य-मन के अतीत पारमार्थिक सुख की आकांक्षा उसे सामाजिक कोलाहल से दूर ले जाकर अपने हृदय की निर्जन कन्दरा में शान्तिवारि की खोज में लगाती है, तभी वे भक्त-हृदय-निर्झर से नि:सृत भावमयी अमृत-नदी में अवगाहन कर कृतार्थ एवं अमर होने का अधिकार प्राप्त करते हैं, तभी वे अपनी अकिंचनता का बोधकर स्वयं को तृण का भी तृण समझने में समर्थ होते हैं, तभी वे जगत को हरिमय देखकर कीटानुकीट की भी पूजा करने में प्रवृत्त होते हैं और तभी वे वस्तुत: वैष्णव-नाम के योग्य हो सकते हैं। ऐसे वैष्णव क्या कभी संसार की ताड़ना से क्षुब्ध हो सकते हैं? वे सब कुछ श्रीहरि का खेल समझकर खेल-खेल में ही उन्मत्त या बालक के समान हँसते हुए संसार-समुद्र के तरंगों पर से होकर चले जाते हैं। ये लोग भगवान के रूपान्तर मात्र हैं। हरिनाम-कीर्तन से जो फल मिलता है, वही इनके नामानुकीर्तन से भी मिलता है। ऐसे वैष्णव – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शुद्र आदि किसी भी जाति के अन्तर्गत नहीं आते। 'भक्त' नाम की नित्यशुद्ध मनोबुद्धि द्वारा गोचर एक अपार्थिव स्वर्गीय जाति है, ये लोग इसी महिमाशाली जाति के हैं। इनका नाम लेने के लिए श्री चैतन्यदेव द्वारा कथित विधि का पालन आवश्यक है। भक्ति-विश्वास से पूर्ण हृदय सहज ही उक्त विधि के पालन में समर्थ होता है। जो वैष्णव विशेष जातियों के अन्तर्गत आते हैं, वे पूर्वोक्त सच्चे वैष्णव न होने पर भी वैष्णव धर्म में उनकी भक्ति, श्रद्धा एवं स्वाभाविक आस्था है। अत: जब वे लोग पूर्वकाल के गुरुओं का नाम-कीर्तन करते हैं, तो उसके प्रभाव से अपना हृदय आलोकित करके उसका मालिन्य व अन्धकार दूर करने में समर्थ होते हैं।

पाठकगण! आइए हम भी भक्तिपूर्ण हृदय के साथ पूर्व के आचार्यों का नाम लेते हुए पवित्र होकर श्री रामानुज के चरितामृत सागर में अवगाहन करने का अधिकार प्राप्त करें। तमिल भाषा में भक्तगण 'आलवार' नाम से विख्यात हैं। 'अल' शब्द का अर्थ है शासन करना और 'वार' शब्द का अर्थ हुआ शासनकर्ता। सम्पूर्ण जगत इनका आज्ञाकारी होने के कारण, ये कुछ काल के लिए किए छोटे-से देश पर आधिपत्य न जमाकर, सदा के लिए पूरे विश्व का आधिपत्य कर रहे है, अत: इन्हीं के लिए 'शासनकर्ता' शब्द का प्रयोग करना सर्व प्रकार से सार्थक है। कितने ही सिकन्दर और नेपोलियन कालस्रोत में बह गए हैं, बह रहे हैं और बह जाएँगे; परन्तु यशोदा, मायादेवी तथा भाग्यवती मरियम आदि के निरीह एवं अकिंचन सन्तानों ने चिरकाल के लिए ही क्षणभंगुर पार्थिव सम्राटों के ऊपर भी अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है। इन्हें यदि सम्राट् न कहें, तो फिर किन्हें कहेंगे? अत: तमिल भाषा में महर्षि अगस्त्य द्वारा सच्चे भक्तों को जो 'आलवार' नाम दिया गया, वह सर्व प्रकार से उचित ही है।

२. पोयगै, भूत, पेय और तिरुमलिशै आलवार

यह अनादि अनन्त सृष्टि-प्रक्रिया जिस ज्ञानशक्ति के प्रभाव से शृंखलाबद्ध एवं अबाध रूप से चल रही है, उसी ज्ञानराशि को वेद कहते हैं। अत: वेद भी अनादि एवं अनन्त है। उसी वेद को जो पूर्णरूपेण जानते हैं उन्हें वेदवित् कहा जाता है। अतएव जिनसे जगत की क्रमानुसार उत्पत्ति, स्थिति एवं समाप्ति होती आ रही है, जो सर्वदा सर्वभूतों की सभी कामनाएँ पूर्ण कर रहे हैं, जो समस्त सत्यों से भी श्रेष्ठ सत्य हैं, वे परमपुरुष ही यथार्थ वेदवित् हैं। इसीलिए उन्होंने अर्जुन से कहा था, "मैं ही वेदान्त का कर्ता एवं वेदों का ज्ञाता हूँ।"[१] समस्त भावराशि उन्हीं से उत्पन्न हुई है। इसीलिए वे अर्जुन से पुन: कहते हैं, "जो मुझे जिस रूप में पाने की इच्छा करते हैं, मैं उसी रूप में उनकी आशा पूर्ण करता हूँ। हे कुन्तिनन्दन, समस्त मानव-समुदाय मेरे ही द्वारा निर्दिष्ट पथ का अवलम्बन अपने अपने गन्तव्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं।"[२] अतएव पृथ्वी पर जितने भी धर्ममत प्रचलित हैं, वे समस्त भगवान द्वारा निर्दिष्ट पथ ही हैं। इसलिए जब 'श्री' सम्प्रदाय के अनुयायी कहते हैं कि विशिष्टाद्वैतवाद सर्वप्रथम स्वयं पद्मनाभ के ही मुखपद्म से नि:स्रित हुआ था, समग्र वेद केवल विशिष्टाद्वैत की ही शिक्षा दे रहे हैं, तो नि:सन्देह वे किसी भ्रान्तिपूर्ण पक्ष का समर्थन नहीं करते। तथापि जब वे कहते हैं कि विशिष्टाद्वैत के अतिरिक्त अन्य कोई भी वाद सत्य नहीं हैं, तब वह वास्तव में संकीर्णता-प्रसूत असत्य वाणी है। वह कदापि सत्य नहीं हो सकता। कूपमण्डूक के समान कूप-आबद्ध-दृष्टि होने पर उन्हें हास्यास्पद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? निर्मलचित्त के भक्तगण चाहे जिस भी वाद का अवलम्बन करें, वे कभी संकीर्णहृदय नहीं हो सकते, उनके भीतर कूपमण्डूकता रह ही नहीं सकती। वे स्वभावत: नम्र होने के कारण वस्तु के यथार्थ तत्त्व को समझने मे समर्थ होते हैं। वे सभी को मान्य करना जानने के कारण सबके भीतर सौन्दर्य राशि देख पाते हैं।

अत: यदि वे अपने अपने इष्टदेवता को विभिन्न धर्मों में

१. वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्। गीता, १५/१५
२. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वश:॥ वही, ४/११

भिन्न भिन्न रूप से सज्जित देख पाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या? ऐसे महापुरुष क्या कभी किसी धर्म की निन्दा कर सकते हैं? आइए पाठकगण, हम इनके पदानुवर्ती होकर मंगलाचरण के रूप में श्रीमन्नारायण से आरम्भ करके प्रधान प्रधान आचार्यो का श्रीचरण-ध्यान करें[३] –

श्रीमद्वेदान्तसिद्धान्त स्थापनानित्यदीक्षितम् ।
श्रीमन्नारायणं वन्दे भान्तं सूरिगुरूत्तमैः ।।१।।

– मैं श्रीमन्नारायण के पादपद्मों की वन्दना करता हूँ, जो सर्व सौन्दर्य के आगार एवं अतीव दीप्तिमान हैं, जो सर्वदा मुक्त पुरुषों तथा निखित जगत के तमोनाशकारी सद्गुरुओं द्वारा परिवेष्ठित हैं और जो वेदान्त के यथार्थ तत्त्व को धराधाम पर स्थापित करने सर्वदा तत्पर हैं ।

तुलायां श्रावणे जातं कांच्यां काञ्चनवारिजात् ।
द्वापरे पाञ्चजन्यांशं सरोयोगिनमाश्रये ।।२।।

– जिन्होंने कार्तिक मास के श्रवणा नक्षत्र में, कांची नगरी में, एक स्वर्णपद्म के भीतर से जन्म ग्रहण किया था, जो श्री विष्णु के पाञ्चजन्य नामक शंख के अवतार हैं, जो सर्वदा सरोवर के भीतर रहकर योगध्यान में निरत रहते हैं, मैं उनकी शरण लेता हूँ ।

कांचीपुर के देव-सरोवर के बीच पानी के नीचे आज भी एक मन्दिर विद्यमान है । उसी मन्दिर के भीतर इन महापुरुष की मूर्ति ध्यान-निमीलित नेत्रों के साथ लेटी हुई है । इनका नाम पोयगै आलवार है । भगवान विष्णु ने पांचजन्य नामक एक दैत्य का संहार करके उसकी अस्थियो से जो शंख बनाया था, उसी का नाम पांचजन्य है । यह शंख उन्हें अतीव प्रिय है । इसके प्रिय होने का कारण यह है कि इसे देखते ही ये भाव स्वत: ही उनके मन में उदित होने लगते हैं कि वे दानव-दलनकारी हैं, मलिनमन हीनबुद्धि असुर-भावापन्न लोगों के लिए महाकाल-सर्प के समान और विशालमना उदारचरित देवस्वभाव निर्मलचित्त परार्थजीवी सत्पुरुषों के परम मित्र-स्वरूप हैं । जिस अस्थि-पिंजर ने कभी उनका नाश करने की कामना से उनके विरुद्ध अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया था, अब वही अपने महान घोष से उनके शत्रुओं का हृदय-रक्त सुखा देता है । कुरुक्षेत्र में उसी की घोर आवाज ने धार्तराष्ट्रों के हृदय, समग्र पृथ्वी तथा नभमण्डल को विदीर्ण कर दिया था ।

पांचजन्य इसी प्रकार सर्वदा विष्णु-शत्रुओं का तेजोहरण करके भीति उत्पन्न किया करता है । यही उसका लक्षण है । अतएव, जहाँ कहीं ये लक्षण देखने को मिलें, वहीं पांचजन्य का आविर्भाव मानने में क्या बाधा हो सकती है? महात्मा पोयगै आलवार नास्तिक, दुरात्मा तथा पाखण्डियों के हृदय के शल्यस्वरूप थे और उनकी सद्युक्तिपूर्ण, तमोनाशकारी, श्रुतिमधुर वाणी से दुरितपरायण लोग विच्छिन्न हो जाते थे, अत: वे पांचजन्य के अंश के रूप में विख्यात हैं ।

दुष्कर्मियों के विनाश हेतु भगवान विष्णु के एक हाथ में चक्र है, असुर प्रकृति के लोगों को चूर्ण करने के निमित्त उनके दूसरे हाथ में गदा है और अपने सेवकों के उत्साह वर्धनार्थ तथा गो-वेद-ब्राह्मण विद्वेषियों को विदीर्ण करने के लिए उनके अन्य दो हाथों में पद्म तथा शंख हैं । ये विष्णु-शक्ति के परिचायक अथवा विकासरूप होने के कारण साक्षात् विष्णु-स्वरूप हैं । जहाँ भी हम विष्णु-शक्ति का विकास देख पाते हैं, वहीं पर हम विष्णु का आंशिक आविर्भाव स्वीकार करते हैं । ऐसी स्वीकृति में जरा भी अयौक्तिकता नहीं है । जो लोग भलीभाँति विचार किये बिना ही इसका उपहास करते हैं, उन्हें हम इस विषय में थोड़ा गम्भीरतापूर्वक विचार करने का अनुरोध करते हैं । पाठकगण, आइए अब हम पुन: पूर्वाचार्यगण की पादवन्दना करें –

तुलाश्रविष्ठासम्भूतं भूतं कल्लोलमालिनः ।
तीरे फुल्लोत्पलान्मल्लापूर्यामीड़े गदांशकम् ।।३।।

– जो कार्तिक मास के धनिष्ठा नक्षत्र में समुद्रतटवर्ती मल्लापुरी में प्रफुल्ल कमल से कौमोदकी गदा के अंशरूप में उत्पन्न हुए थे, मैं उन्हीं भूत नामक महापुरुष की वन्दना करता हूँ ।

मद्रास से कुछ मील दक्षिण में अवस्थित तिरुकड़लमलै नामक स्थान ही पहले मल्लापुरी नाम से जाना जाता था । महात्मा भूतत्त आलवार ने वहीं जन्म लिया था । वे नास्तिकों का गर्व चूर्ण कर देते थे इसीलिए लोग गदांश-सम्भूत कह कर पूजते हैं ।

तुलाशतभिषग्जातं मयूरपुरकैरवात् ।
महान्तं महदाख्यातं वन्दे श्रीनन्दकांशकम् ।।४।।

– मैं उन महात्मा की वन्दना करता हूँ, जिन्होंने कार्तिक मास के शतभिषा नक्षत्र में मयूरपुरी के किसी कूप में उत्पन्न कुमुद से श्री विष्णु के नन्दक नामक खड्ग के अंश से जन्म लिया था । मद्रास नगर के दक्षिणी भाग का नाम मयलापुर या मयूरपुर है ।

तमिल मयला शब्द मयूर का ही अपभ्रंश है, अत: मयूरपुर अब वहाँ मयलापुर के नाम से विख्यात है । अब भी वहाँ एक कूप विद्यमान है । उसी कूप से पेय आलवार ने जन्म लिया था । वे मोहान्ध लोगों का मोहपाश छेदन कर देते थे, अत: लोग उन्हें खड्गावतार कहकर पूजते हैं । 'पेय' शब्द का अर्थ है उन्मादी । वे श्री हरि के प्रेम में उन्मत्त रहा करते थे, इसलिए उनका नाम पेय आलवार हो गया ।

उपरोक्त तीन आलवारों ने द्वापरयुग में अर्थात् ईसापूर्व ४२०२ सन् के पहले ही जन्म ग्रहण किया था ।

मघायां मकरे मासे चक्रांशं भार्गवोद्भवम् ।
महीसारपुराधीशं भक्तिसारमहं भजे ।।५।।

– जिन्होंने माघ मास के मघा नक्षत्र में सुदर्शन के अंश से भार्गव कुल में महीसारपुर के अधीश्वर के रूप में जन्म लिया और जिन्होंने भगवद्भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ माना, मैं उन्हीं की वन्दना करता हूँ ।

---

३. ब्रह्मतन्त्रस्वतन्त्र स्वामी कृत दिव्यसुरि स्तोत्रम्

इन महापुरुष का नाम है तिरुमलिशै आलवार । इनका तीक्ष्णधार ज्ञान-विचार मोह का मूलोच्छेदन कर डालता था, इसीलिए ये चक्रांश के रूप में विख्यात हैं । इन्होंने द्वापर युग के अन्तिम वर्ष अर्थात् ईसापूर्व सन् ४२०२ में पूनामलै से दो मील पश्चिम में स्थित तिरुमलिशे नामक ग्राम में जन्म ग्रहण किया था । पहले यह ग्राम महीसार के नाम से विख्यात था । प्रतिदिन पुष्प तथा तुलसीदल का चयन करके मनोहर माला गूँथकर श्री गोविन्द को अर्पण करना ही इनका एकमात्र कार्य था । यद्यपि वे किसी भूभाग के शासक न थे, तथापि वे सार्वभौम सम्राट् की अपेक्षा भी अधिक सम्माननीय थे, हैं और रहेंगे । इनके भक्तिभाव पर सभी लोग मुग्ध रह जाते थे ।

३. शठारि, मधुर कवि और राजा कुलशेखर आलवार

वैशाखे तु विशाखायां कुरुकापुरिकारिजम् ।
पाण्ड्यदेशे कलेरादौ शठारि सैन्यपं भजे ।।६।।

– जिन्होंने कलियुग के प्रारम्भ में, वैशाख मास के विशाखा नक्षत्र में, पाण्ड्य देश में स्थित कुरुकापुरी में, महात्मा कारी के पुत्र-रूप में जन्म ग्रहण किया, मैं उन्हीं सेनापति विष्वक्सेन के अवतार शठारि की अर्चना करता हूँ ।

कुरुकापुरी, कुरुक्कुर या तिरुनगरी ताम्रपर्णी नदी के तट पर स्थित है । यह नदी दक्षिणी भारत के दक्षिणी भाग से होकर प्रवाहित होती है । भारतवर्ष में इसके दक्षिण में अन्य कोई नदी नहीं है । उपरोक्त कुरुक्कुर नामक स्थान तिन्नेवेली नगर (Tinnevelly) के निकट स्थित है । तिरुशिर:पल्ली (Trichi-napoly) से लेकर कुमारी अन्तरीप तक दाक्षिणात्य के दक्षिणी अंश के पूर्व भाग को पाण्ड्यदेश कहते हैं । मदुरा या दक्षिणी मथुरा इसी पाण्ड्यदेश की राजधानी थी । कन्याकुमारी तथा त्रिवेन्द्रम (श्री महेन्द्रपुरम) (Trivendrum) से लेकर कन्नानूर (Cannanore) तक पश्चिमी घाट से युक्त पश्चिमी भाग को मलाबार (मलयदेश) या केरलदेश कहते हैं । इसके उत्तर में कन्नड़ प्रदेश है । कन्नड़ के पश्चिम में कोंकणदेश स्थित है । कोंकण का दक्षिण-पूर्व भाग कर्नाटक प्रदेश कहलाता है । तिरुशिर:पल्ली से नेल्लोर तक का सारे पूर्वी अंचल का नाम चोलराज्य है । कांचीपुर (Conjeevorum) चोलराज्य की राजधानी थी । नेल्लोर से राजमहेन्द्रपुर (Rajamundri) तक गोदावरी नदी के दक्षिणांश को आन्ध्रप्रदेश कहते हैं । राजमहेन्द्रपुर से गंजाम तक जो प्रदेश फैला हुआ है, उसका नाम कलिंग है । कलिंग के पूर्व तथा उत्तर में ओड्रदेश या उड़ीसा है । पाण्ड्य तथा चोल प्रदेश में तमिल भाषा प्रचलित है । मलाबार प्रदेश में मलयालम भाषा, कर्णाट तथा कन्नड़ प्रदेश में कन्नड़ भाषा और आन्ध्र तथा कलिंग प्रदेश में तेलुगू भाषा प्रचलित है । उपरोक्त चारों को द्रविड़ भाषाएँ कहते हैं । दक्षिणी भक्तों के बारे में जानने के लिए उनका ज्ञान आवश्यक है ।

विष्वक्सेन नारायण की द्वितीय मूर्ति हैं । ये वैष्णवी सेना के अधिनायक हैं । ये चन्द्र के समान शुभ्रकान्ति, चतुर्भुज तथा सर्वविघ्नों के विनाशक हैं । वैष्णवगण श्री गणपति तथा श्री कार्तिकेय के बदले विष्वक्सेन की पूजा करते हैं ।

विष्वक्सेन सर्वविघ्न विनाशक और नारायण के सेनानायक हैं । एक बार महात्मा कारी ने अपनी पत्नी के साथ पुत्र के हेतु नारायण-मन्दिर में जाकर व्रत-उपवास आदि किया । इस पर सन्तुष्ट होकर भगवान विष्णु ने कहा कि वे स्वयं ही उनके पुत्ररूप में अवतीर्ण होंगे । उसी कथन के अनुसार शठरिपु का जन्म हुआ । शठरिपु, शठारि और शठकोपा एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । वे इतने प्रेमी तथा मधुर स्वभाव के थे कि जो भी उनके साथ वार्तालाप करता, उसे ही वे परम आत्मीय के समान लगते । वे सबके आत्मीय थे अत: सभी उन्हें नम्मा-आलवार अर्थात् 'वे हमारे आलवार' कहा करते थे । नम्मा शब्द का अर्थ है – हमारे । इनका एक अन्य नाम 'परांकुश' है, क्योंकि ये सर्वजनवैरी मोहमातंग के लिए अंकुश-स्वरूप थे । ये निम्न कुलोद्भव थे । इनके पिता महात्मा कारी एक समृद्ध जमींदार थे ।

नम्मा आलवार ने कलियुग के प्रथम वर्ष अर्थात् ईसापूर्व सन् ३१०२ में जन्म लिया । उनके एक अति वृद्ध भक्त थे । ये भक्त मधुर भाषा में कविताएँ लिखते थे, अत: उनका नाम मधुरकवि आलवार हुआ । इन्होंने युगसन्धि काल में जन्म लिया । तमिल विद्वानों ने इनका जन्मकाल ईसापूर्व सन् ३२२४ निश्चित किया है ।

चैत्रे चित्रासमुद्भूतं पाण्ड्यदेशे खगांशकम् ।
श्रीपरांकुशसद्भक्तं मधुरं कविमाश्रये ।।७।।

– चैत्र मास के चित्रा नक्षत्र में जिन्होंने गरुड़ांश से पाण्ड्यदेश में जन्म ग्रहण किया था, जो परांकुर शठरिपु के परम भक्त थे, मैं उन्हीं मधुरकवि का शरणागत हूँ ।

इनकी जन्मभूमि भी शठरिपु की जन्मभूमि के ही पास थी ।

कुम्भे पुनर्वसुभवं केरले चोलपट्टने ।
कौस्तुभांशं धराधीशं कुलशेखरमाश्रये ।।८।।

– जिन्होंने फाल्गुन मास के पुनर्वसु नक्षत्र में श्री विष्णु के कौस्तुभ के अंश से केरल या मलाबार देश के चोलपट्टन या तिरुभञ्जिक्कोलम नामक नगर में जन्म लिया, जो केरल के अधिपति थे, मैं उन्हीं राजा कुलशेखर की शरण लेता हूँ ।

ये 'मुकुन्दमाला' के रचयिता हैं । इनके समान भक्त अति विरल हैं । ईसापूर्व सन् ३१०२ में शुक्ला द्वादशी को बृहस्पतिवार के दिन इनका जन्म हुआ । ये राजर्षि के समान दीप्तिमान थे, अत: वैष्णवगण इन्हें नारायण के कौस्तुभमणि का अंशावतार मानकर पूजते हैं । ☐ (क्रमश:) ☐

ईसप की नीति कथाएँ (१)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व जन्मे ईसप के जीवन के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। कहते है कि वे किसी पूर्वी देश में जन्मे और यूनान के निवासी एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि की भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। सुकरात तथा सिकन्दर आदि के युग में अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की इन कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई अनहोनी बात नहीं है। इन कथाओं में व्यावहारिक जीवन के अनेक सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिए रोचक तथा उपयोगी हैं। इनकी लोकप्रियता का यही कारण है। – सं.)

लोमड़ी और अंगूर

एक बार एक लोमड़ी अंगूर के एक खेत में गयी। वहाँ पके हुए फलों को देखकर उसके मुख में पानी भर आया। परन्तु सारे फल इतनी ऊँचाई पर लटक रहे थे कि उन्हे प्राप्त करना लोमड़ी के बूते की बात नहीं थी। लोभ से वशीभूत होकर उसने उछल-कूदकर उन अंगूरों तक पहुँचने की बहुत कोशिश की, परन्तु वह कैसे भी अपनी इच्छा पूरी करने में सफल नहीं हो सकी। आखिरकार उनकी ओर से वह पूर्णत: निराश होकर यह कहते हुए चली गयी, "ये अंगूर बिल्कुल ही खट्टे और बेकार हैं।"

बाघ और बगुला

एक बार एक बाघ के गले में हड्डी अटक गयी। बाघ ने उसे निकालने की बड़ी चेष्टा की, पर उसे सफलता नहीं मिली। पीड़ा से परेशान होकर वह इधर-उधर दौड़-भाग करने लगा। किसी भी जानवर को सामने देखते ही वह कहता, "भाई, यदि तुम मेरे गले से हड्डी को बाहर निकाल दो, तो मैं तुम्हें एक विशेष पुरस्कार दूँगा और आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा।" परन्तु कोई भी जीव भय के कारण उसकी सहायता करने को राजी नहीं हुआ।

पुरस्कार के लोभ में आखिरकार एक बगुला तैयार हुआ। उसने बाघ के मुँह में अपनी लम्बी चोंच डालकर काफी प्रयास के बाद उस हड्डी को बाहर निकाल दिया। बाघ को बड़ी राहत मिली। बगुले द्वारा पुरस्कार की बात उठाने पर वह आँखें तरेरकर दाँत पीसते हुए बोला, "अरे मूर्ख, तूने बाघ के मुँह में अपना चोंच डाल दी थी; उसे तू सुरक्षित रूप से बाहर निकाल सका है, इसी में अपना भाग्य न मानकर ऊपर से पुरस्कार माँग रहा है? यदि तुझे अपनी जान प्यारी है, तो मेरे सामने से दूर हो जा; नहीं तो अभी तेरी गर्दन मरोड़ दूँगा।" यह सुनकर बगुला स्तब्ध रह गया और तत्काल वहाँ से चल दिया। ठीक ही कहा है – दुष्टों के साथ ज्यादा मेल-जोल अच्छा नहीं।

कौआ और मोर के पंख

एक जगह बहुत-से मोर के पंख पड़े हुए थे। एक कौआ ने उन्हें देखकर मन-ही-मन सोचा – यदि मैं इन मोरपंखों को अपने पंखों पर लगा लूँ, तो मैं भी मोरों के समान ही सुन्दर दिखने लगूँगा। यह सोचकर कौवे ने उन्हें अपने पंखों पर लगा लिया और अन्य कौवों के पास जाकर कहने लगा – तुम लोग बड़े नीच और कुरूप हो; मैं अब तुम लोगों के साथ नहीं रहूँगा। यह कहकर वह गालियाँ बकते हुए मोरों की टोली में सम्मिलित होने चला।

मोरों ने उसे देखते ही पहचान लिया कि यह कौआ है। इसके बाद सभी मोर मिलकर उसके पंखों से एक एक मोर-पंख निकाल लिये और उसे अत्यन्त मूर्ख ठहराकर उस पर इतना प्रहार करने लगे कि कौआ परेशान हो गया और उसने भागकर अपनी जान बचायी।

इसके बाद वह फिर अपनी टोली में शामिल होने गया। इस पर दूसरे कौवों ने उसकी हँसी उड़ाते हुए कहा, "अरे मूर्ख, तूने मोरों के पंख पाकर अहंकार में उन्मत्त हो, हम लोगों से घृणा करके और गालियाँ देते हुए मोरों के दल में शामिल होने गया था; वहाँ से अपमानित होकर, अब तू फिर हमारी टोली में मिलने आया है! तू तो बड़ा ही नीच और निर्लज्ज है।" इस प्रकार उसका यथोचित तिरस्कार करते हुए उन लोगों ने उस मूर्ख कौवे को भगा दिया।

मनुष्य यदि दूसरों की नकल का प्रयास छोड़कर, अपने गुण-अवगुण जानकर अपनी अवस्था से सन्तुष्ट रहे, तो उसे किसी के सामने अपमानित नहीं होना पड़ता।

शिकारी कुत्ता

एक व्यक्ति के पास एक बड़ा अच्छा शिकारी कुत्ता था। वह जब भी शिकार खेलने जाता, तो कुत्ता भी उसके साथ रहता। उस कुत्ते में बड़ी ताकत थी और शिकार के समय उसे कोई भी पशु दिखा देने पर, वह अपनी दाँतों से उसका गर्दन इतने जोर से दबोच लेता कि वह भागने में असमर्थ हो जाता था। जब तक उसके शरीर में शक्ति रही, वह इसी प्रकार अपने मालिक की खूब सेवा करता रहा।

कुछ दिनों बाद वह कुत्ता बीमार होकर बड़ा कमजोर हो गया। उसी समय एक दिन उसका मालिक उसे साथ लेकर शिकार खेलने गया। एक सूअर उनके सामने से होकर भाग रहा था। शिकारी का संकेत पाते ही कुत्ते ने दौड़कर सुअर की गर्दन में अपने दाँत गड़ा दिये; परन्तु उसमें पहले जैसी शक्ति न रहने के कारण वह उसे पकड़े नहीं रह सका। इस कारण सुअर उसे छुड़ाकर भाग गया।

शिकारी आगबबूला होकर कुत्ते को डाँटने और मारने लगा । कुत्ते ने कहा, "महाशय, बिना किसी अपराध के आप मुझे क्यों पीट रहे हैं? जरा याद कीजिए, जब मेरे शरीर में बल था, तब मैंने आपकी कितनी सेवा की थी! अब मैं बीमार होकर बड़ा दुर्बल हो गया हूँ, इस कारण आपका मुझ पर क्रोध और प्रहार करना उचित नहीं है ।"

घोड़ा और अश्वपाल

घोड़ों को ठीक ठीक भोजन मिले और उनका शरीर यथाविधि स्वच्छ रखकर उनकी मालिश की जाय, तो वे बड़े बलवान और सुन्दर दिखाई देते हैं । परन्तु यदि उन्हें ठीक ठीक भोजन न दिया जाय, तो केवल सफाई और मालिश से कोई लाभ नहीं होता । एक अश्वपाल प्रतिदिन अपने घोड़े के भोजन का कुछ अंश बेचकर पैसे बनाया करता था । उचित आहार के अभाव में घोड़ा दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगा । वह दुष्ट अश्वपाल पैसे के लालच में प्रतिदिन घोड़े के आहार में से चोरी तो अवश्य करता था, परन्तु उसकी सफाई तथा मालिश में वह जरा भी आलस्य नहीं दिखाता था; बल्कि बाकी लोग घोड़ों की जितनी बार और जितने देर तक मालिश तथा सफाई करते हैं, वह उससे भी अधिक बार और समय तक उसकी सफाई तथा मालिश करता था । दुर्बल शरीर की ज्यादा सफाई और मालिश से घोड़े को बड़ा कष्ट होने लगा । इस कारण घोड़े ने अत्यन्त नाराज होकर एक दिन अश्वपाल से कहा, "भाई, यदि तुम मुझे सुन्दर और सबल बनाना चाहते हो, तो मुझे ठीक से खिलाना आरम्भ करो । ठीक से खिलाये बिना तुम केवल सफाई और मालिश के द्वारा मुझे कभी सुन्दर और सबल नहीं बना सकोगे ।"

साँप और किसान

जाड़ों के दिन थे । एक किसान बड़े सबेरे खेत में काम करने जा रहा था । उसने देखा कि एक साँप ठण्ड से अकड़ा हुआ मरणासन्न होकर रास्ते के एक किनारे पड़ा हुआ है । उसके हृदय में दया का संचार हुआ । उसने साँप को उठा लिया और घर लाकर उसे आग की गर्मी तथा भोजन देकर उसे बचा लिया । इस प्रकार नया जीवन पाकर साँप का अपना पुराना स्वभाव लौट आया और किसान के बच्चे को सामने पाकर वह उसी को डसने आगे बढ़ा ।

यह देखकर किसान को बड़ा क्रोध आया । उसने साँप से कहा, "अरे क्रूर प्राणी, तू तो बड़ा कृतघ्न है । तेरे प्राण निकलते देखकर दयापूर्वक मैंने घर लाकर तेरी प्राणरक्षा की और तू यह सब भुलाकर मेरे पुत्र को ही डसने जा रहा है! समझ गया, जिसका जो स्वभाव है, वह कैसे भी बदल नहीं सकता । अस्तु, तेरा जैसा कर्म है, अब तू उसी के योग्य फल ग्रहण कर ।" यह कहकर नाराज किसान ने अपने हाथ की कुल्हाड़ी से साँप के सिर पर ऐसा प्रहार किया कि एक ही चोट में उसकी इहलीला समाप्त हो गयी ।

कुत्ता और उसका परछाई

एक रोटी मुख में लिए एक कुत्ता नदी पार कर रहा था । नदी के स्वच्छ जल में पड़ते हुए अपने प्रतिबिम्ब को एक अन्य कुत्ता समझकर उसने मन-ही-मन सोचा – इस कुत्ते के मुख में जो रोटी है, उसे यदि मैं छीन लूँ, तो मेरे पास दो रोटियाँ हो जाएँगी ।

इस प्रकार लोभ में पड़कर कुत्ता ज्योंही मुँह फैलाकर उस काल्पनिक रोटी को पकड़ने गया, त्योंही उसके मुख की रोटी पानी में गिरकर बह गयीं । इस पर स्तब्ध होकर थोड़ी देर चुप रहने के बाद वह यह कहते हुए नदी के उस पार चला गया – जो लोग लोभ के वशीभूत होकर कल्पित लाभ की आशा में दौड़ते हैं, उनकी यही हालत होती है । एक प्रसिद्ध कहावत भी है – आधी छोड़ सारी को धावे, आधी मिले न सारी पावे ।

बाघ और मेमना

एक पहाड़ी झरने से पानी पीते हुए एक बाघ ने देखा कि नीचे की ओर थोड़ी दूरी पर एक मेमना भी पानी पी रहा है । वह मन-ही-मन सोचने लगा कि क्यों न इस मेमने को मारकर आज का भोजन सम्पन्न करूँ! पर किसी निर्दोष को ऐसे ही मारना अच्छा नहीं दिखता, अत: मैं उसका दोष बताकर उसे अपराधी सिद्ध करने के बाद ही मारूँगा ।

ऐसा निश्चय करके बाघ जल्दी से मेमने के पास जा पहुँचा और बोला, "अरे दुष्ट, तेरी यह मजाल, जो मुझे पानी पीते देखकर भी उसे गँदला कर रहा है?" सुनकर मेमना भय से काँपते हुए बोला, "महाशय, आप क्या कह रहे हैं! मैंने कहाँ आपके पानी को गँदला किया? मैं तो नीचे पी रहा था और आप ऊपर पी रहे थे । नीचे का पानी गँदला करने पर भी ऊपर का पानी गँदला नहीं हो सकता ।"

बाघ ने कहा, "खैर जाने दे, पर पिछले साल तूने मेरी बड़ी निन्दा की थी; आज मैं उसका समुचित दण्ड दूँगा ।" मेमना काँपते हुए बोला, "आप गलत बोल रहे हैं, साल भर पहले तो मेरा जन्म ही नहीं हुआ था । अत: पिछले साल मेरे द्वारा आपकी निन्दा भला कैसे सम्भव है?" बाघ ने कहा, "ठीक है, तूने नहीं बल्कि तेरे बाप ने मेरी निन्दा की थी । अब चाहे तू करे या तेरा बाप, बात तो एक ही

है, अब मैं दूसरी कोई सफाई सुनना नहीं चाहता।" इतना कहकर बाघ ने उस असहाय दुर्बल मेमने को मार डाला।

मधुपात्र और मक्खी

एक दुकान में मधु का बर्तन उलटकर गिर गया था। इससे चारों ओर मधु फैल गया। मधु का सुगन्ध पाकर झुण्ड-की-झुण्ड मक्खियाँ आकर मधु खाने लगीं। जब तक एक बूँद भी मधु पड़ा रहा, वे उस स्थान से हिली नहीं। अधिक देर तक वहाँ रहने से क्रमशः सभी मक्खियों के पाँव मधु से लिपट गये। उसके बाद मक्खियाँ कितना भी प्रयास करतीं, उड़ नहीं सकीं और बाद में भी उड़ने की आशा नहीं रही। तब वे अपने आपको धिक्कारते हुए शिकायत के स्वर में कहने लगीं, "हम कैसी मूर्ख हैं, क्षणिक सुख के लिए हमने प्राण दे दिये।" ठीक ही कहा है –

माछी गुड़ में गड़ी रहै, पंख रहै लपटाय।
हाथ मलै अरु सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

कुत्ता, मुर्गा और सियार

एक कुत्ते और एक मुर्गे के बीच बड़ा प्रेम था। एक दिन दोनों साथ मिलकर घूमने को गये। एक जंगल के बीच रात हो गयी। रात बिताने के लिये मुर्गा एक वृक्ष की शाखा पर चढ़ गया और कुत्ता उसी वृक्ष के नीचे लेट गया।

क्रमशः भोर होने को आयी। मुर्गे का स्वभाव है कि वह भोर के समय जोर की आवाज में बाँग देता है। मुर्गे की आवाज सुनते ही एक सियार ने मन-ही-मन सोचा — आज कोई उपाय करके इस मुर्गे को मारकर इसका मांस खाऊँगा। ऐसा निश्चय करके धूर्त सियार वृक्ष के पास जाकर मुर्गे को सम्बोधित करते हुए बोला, "भाई, तुम कितने भले पक्षी हो; सबका कितना उपकार करते हो। मैं तुम्हारी आवाज सुनकर अत्यन्त आह्लादित होकर आया हूँ। वृक्ष की शाखा से नीचे उतर आओ, हम दोनों मिलकर थोड़ा आमोद-प्रमोद करेंगे।"

सियार की चालाकी समझकर मुर्गे ने उसकी धूर्तता का फल देने के लिए कहा, "भाई सियार, तुम वृक्ष के नीचे आकर थोड़ी देर प्रतीक्षा करो, मैं उतर रहा हूँ।" यह सुनकर सियार जब आनन्दपूर्वक उस वृक्ष के नीचे आया, तभी कुत्ते ने उस पर आक्रमण कर दिया और अपने नख-दाँतों से प्रहार करके उसे मार डाला। दूसरों के लिए गड्ढा खोदनेवाला स्वयं ही गड्ढे में गिर जाता है।

गाड़ीवान और चक्का

एक गाड़ीवान अपनी बैलगाड़ी पर बहुत-सी पटसन की गाँठें लादकर गाँव से शहर की ले जा रहा था। गाड़ी के दोनों बैल बड़े कष्टपूर्वक उस बोझ को ढोते हुए चले जा रहे थे। इस परिश्रम से उन्हें चाहे जितना भी कष्ट हो रहा हो, वे चुपचाप रास्ता चल रहे थे, पर गाड़ी के दोनों चक्के भयानक चरमराहट की आवाज निकाल रहे थे। गाड़ीवान बहुत देर तक उस कर्कश आवाज को सहता रहा। आवाज को दूर करने के लिए उसने चक्कों में तेल भी डाला, परन्तु इससे भी उनकी चरमराहट बन्द नहीं हुई। तब गाड़ीवान अत्यन्त क्रोधित होकर चक्कों को सम्बोधित करके बोला, "अरे दुष्टो! जो लोग इतनी बड़ी गाँठों का भार खींचकर ले जा रहे हैं, वे तो अपने कष्ट का इजहार किये बिना चुपचाप रास्ता चल रहे हैं और तुम लोग क्यों जोर जोर से चरमराते हुए कान फाड़ रहे हो?" प्रायः देखने में आता है कि कम कष्ट पानेवाले ही ज्यादा चिल्लाते हैं। □ (क्रमशः) □

(पृष्ठ १४ का शेषांश)

अब जरा ईश्वर का नाम लो। उड़द की दाल के बाद खीर-लड्डू हो जाय।" बातों बातों में घोषपाड़ा, नवरसिक आदि सम्प्रदायों की बात उठी थी, इसीलिए वे कहते हैं – यह सब चर्चा करने से मन नीचे उतर जाता है और थोड़ा-सा भगवान का नाम लेने से मन शुद्ध होगा। बात यह है कि वे यदि यह सब नहीं कहते, तो इस विषय में हमारी चेतना कैसे जागती? बुराई को भी थोड़ा-सा जानना पड़ता है। परन्तु वे सर्वदा चेताते हुए कहते हैं – वे सब बड़े गन्दे मार्ग हैं। उन मार्गों में इतने भोगों से होकर भगवान की ओर जाना होता है कि पग पग पर साधक का फिसलता है। अतः जो मार्ग शुद्ध है, जो मार्ग त्याग के आदर्श पर स्थापित है, उसी मार्ग पर चलने के लिए ठाकुर ने अपनी सन्तानो को प्रोत्साहित किया है।

अब उन्होंने नृत्य के साथ कीर्तन करते हुए मानो उस कलुषित वातावरण को दूर करके निर्मल आनन्द का प्रवाह बहा दिया। यही ठाकुर का वैशिष्ट्य है। वे कभी किसी विषय की केवल आलोचना करके छोड़ नहीं देते थे। वे जिनकी आलोचना करते, साथ-ही-साथ उनके भीतर के गुणों को भी दिखा देते। उनके भक्तों में केदार नवरसिक सम्प्रदाय से जुड़े थे। ठाकुर केदार से बड़ा प्रेम करते थे, पर इसी कारण वे उनके इस नवरसिक आदि सम्प्रदायों के प्रति आकर्षण का समर्थन नहीं करते। ठाकुर के इस बहुमुखी भाव को याद रखने की आवश्यकता है। जैसे वे योग्यता सम्मान देते, वैसे ही लोगों को अमंगलकारी वस्तुओं से सावधान भी कर देते।

□ (क्रमशः) □

केनोपनिषद् (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनानत वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु उपनिषदों पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। हम उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब केनोपनिषद् पर लिखे शांकर-भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हमने भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को तोड़कर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु मम अङ्गानि वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् अथो बलम् इन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्म औपनिषदं मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद् अनिराकरणम् अस्तु अनिराकरणं मे अस्तु । तद् आत्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्माः ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

भावार्थ – ॐ । मेरे सभी अंग – वाणी, प्राण, नेत्र, कान (आदि ज्ञानेन्द्रियाँ), बल तथा समस्त कर्मेन्द्रियाँ – पुष्ट हों। (जगत् में) सब कुछ उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। ब्रह्म की मैं उपेक्षा न करूँ, ब्रह्म (भी) मेरी उपेक्षा न करे। (ब्रह्म के द्वारा) मेरा परित्याग न हो और मैं (भी ब्रह्म का) परित्याग न करूँ। उपनिषदों में कथित (सत्य, तप आदि) धर्म आत्मोपलब्धि में प्रयासरत मुझ (साधक) को प्राप्त हों, वे सब मुझे प्राप्त हों। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

भूमिका – 'केनेषितम्' इत्यादि-उपनिषत् परब्रह्म-विषया वक्तव्या इति नवमस्य अध्यायस्य आरम्भः । प्राग्-एतस्मात्-कर्माणि अशेषतः परिसमापितानि, समस्त कर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्य उपासनानि उक्तानि, कर्माङ्ग-सामविषयाणि च । अनन्तरं च गायत्र-सामविषयं दर्शनं वंशान्तं उक्तं कार्यम् ।

'केनेषितम्' से आरम्भ होनेवाला परब्रह्म-विषयक उपनिषद् कहने के उद्देश्य से ही (सामवेदीय तवलकार ब्राह्मण ग्रन्थ का यह) नवाँ अध्याय आरम्भ किया जा रहा है। इसके पूर्व (के आठ अध्यायों में) कर्मकाण्डों का पूरी तौर से निरूपण किया जा चुका है और समस्त कर्मों के आश्रयभूत प्राण की उपासना तथा साम आदि कर्मांगों को बता दिया गया है। इसके बाद (गुरु-शिष्य की) वंश-परम्परा के वर्णन तक गायत्र-साम विषयक दर्शन (उपासना) के रूप में कर्तव्य भी बता दिये गये हैं।

सर्वं एतद् यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यग् अनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्धि-अर्थं भवति । सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिण-मार्ग-प्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या तु अशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पशु-आदि स्थावर-अन्ता अधोगतिः स्यात् । 'अथ एतयोः पथोः न कतरेण च न तान् इमानि क्षुद्राणि असकृद् आवर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व इति एतत् तृतीयं स्थानम्' (छा. उ. ५/१०/८) इति श्रुतेः, 'प्रजा ह तिस्रो अत्यायं ईयुः' (ऐ. आ. २/१/१/४) इति च मन्त्रवर्णात् ।

इसके पूर्व (के आठ अध्यायों में) बताये गये समस्त कर्म तथा उपासनाओं का निष्काम मुमुक्षु के द्वारा समुचित रूप से अनुष्ठान किये जाने पर वे उसकी चित्तशुद्धि का कारण बन जाते हैं। परन्तु ऐसे कामनायुक्त लोग, जो उपासना से रहित हैं और केवल श्रुति तथा स्मृतियों में कथित कर्मों का ही अनुष्ठान करते हैं, वे इनके फलस्वरूप दक्षिण मार्ग (पितृयान) तथा पुनर्जन्म की प्राप्ति करते हैं। केवल स्वाभाविक (खाना, पीना, सोना आदि) अशास्त्रीय प्रवृत्ति (कर्मों) के द्वारा पशु-पक्षियों से लेकर पेड़-पौधों तक अधोगति हो जाती है। श्रुति में भी कहा है, "अब (जो लोग कर्मों या उपासनाओं का अनुष्ठान नहीं करते) वे इन दोनों (पितृयान तथा देवयान) मार्गों से वंचित होकर बारम्बार आवागमन को प्राप्त होनेवाले (कीड़े-मकोड़े आदि) क्षुद्र जीव हो जाते हैं; जन्मो और मरो – यही उनकी तीसरी गति है।" वेदमंत्रों में यह भी है, "(अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज) तीन प्रकार के जीवों ने (दोनों मार्गों को) छोड़ करके इस (दुःखमय गति) को प्राप्त किया।"

विशुद्ध-सत्त्वस्य तु निष्कामस्य एव बाह्याद्-अनित्यात् साध्य-साधन-सम्बन्धाद् इह कृतात् पूर्वकृतात् वा संस्कार-विशेष-उद्भवात् विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषया जिज्ञासा प्रवर्तते । तद्-एतद्-वस्तु प्रश्न-प्रतिवचन-लक्षणया श्रुत्या प्रदर्श्यते 'केनेषितम्' इत्याद्यया । काठके च उक्तम् 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति न अन्तरात्मन् । कश्चिद् धीरः प्रत्यग्-आत्मानं ऐक्षद् आवृत्त-चक्षुः अमृतत्वं इच्छन्' (क. उ. २/१/१) इत्यादि । 'परीक्ष्य लोकान् कर्म-चितान् ब्राह्मणो निर्वेदं आयात् न अस्ति अकृतः कृतेन । तद्-विज्ञानार्थं स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु. उ. १/२/१२) इत्यादि-अथर्वणे च ।

शुद्धचित्त तथा कामनारहित व्यक्ति को इस जन्म या पिछले जन्मों में किये हुए कर्मों के विशेष संस्कार के फलस्वरूप (स्वर्ग रूप) साध्य तथा (यज्ञ रूप) साधन से सम्बन्धित बाह्य तथा अनित्य वस्तुओं से वैराग्य हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को ही अन्तरात्मा के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इसी जिज्ञासा को श्रुति के द्वारा 'केनेषितम्' से आरम्भ करके प्रश्नोत्तर के रूप में दिखाया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है – "ब्रह्मा ने इन्द्रियों को (उनकी मूल प्रवृत्ति को) बहिर्मुख

करके मानो उन्हें मार डाला । इसीलिए वे बाहर की ओर ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं । परन्तु अमृतत्व (मुक्ति) की इच्छा करते हुए किसी धीर व्यक्ति ने अन्तर्मुखी दृष्टि से युक्त होकर अन्तरात्मा को देखा ।'' और अथर्ववेद के मुण्डक उपनिषद् में भी कहा गया है – ''ब्रह्मजिज्ञासु व्यक्ति कर्म से प्राप्त होनेवाले (स्वर्गादि) लोकों के (गुण-दोषों) की परीक्षा करके देख ले कि किये हुए कर्म के द्वारा शाश्वत वस्तु (आत्मा) की प्राप्ति नहीं होती । (तदुपरान्त) उस आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए उसे हाथ में समिधा-काष्ठ लेकर शास्त्रज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए ।''

एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यं-उपपद्यते, न अन्यथा । एतस्मात् च प्रत्यगात्म-ब्रह्मविज्ञानात् संसारबीजं-अज्ञानं काम-कर्म-प्रवृत्ति-कारणं-अशेषतो निवर्तते, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वम् अनुपश्यतः' (ईश. उ. ७) इति मन्त्रवर्णात्, ''तरति शोकम् आत्मवित्' (छा. उ. ७/१/३) इति, 'भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मु. उ. २/२/८) इत्यादि श्रुतिभ्यः च ।

केवल ऐसे वैराग्यवान व्यक्ति को ही अन्तरात्मा विषयक ज्ञान के श्रवण, मनन तथा अनुभूति का सामर्थ्य (अधिकार) प्राप्त होता है, अन्य को नही । और इस अन्तरात्मा रूप ब्रह्म के विशेष ज्ञान के द्वारा; संसार के बीजभूत और कामना, कर्म तथा प्रवृत्ति (आवागमन) के मूल कारण अज्ञान का पूर्णतः नाश हो जाता है । श्रुतियों में कहा है – 'उस अवस्था में एकत्व का अनुभव कर रहे ज्ञानी को भला कैसा मोह और कैसा शोक हो सकता है?', 'आत्मज्ञानी समस्त दु:खों से पार हो जाता है ।', 'उस कारण तथा कार्य-ब्रह्म का दर्शन होने पर हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, मन के सारे संशय दूर हो जाते हैं और (प्रारब्ध को छोड़कर बाकी) समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है ।'

कर्म-सहिताद् अपि ज्ञानाद् एतत् सिध्यति इति चेत्?

शंका – ज्ञान-कर्म समुच्चय (कर्म के साथ ज्ञान) के द्वारा भी यह (मुक्ति) सिद्ध हो सकती है, यदि ऐसा कहें तो?

न; वाजसनेयके तस्य अन्यकारणत्व-वचनात् । 'जाया मे स्यात्' (बृ. उ. १/४/१७) इति प्रस्तुत्य 'पुत्रेण अयं लोको जय्यो न अन्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' (बृ. उ. १/५/१६) इति आत्मनो अन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वम् उक्तं वाजसनेयके ।

समाधान – नहीं होगा, क्योंकि वाजसनेय (बृहदारण्यक) उपनिषद् में उसे (कर्म के साथ उपासना को) भिन्न फलवाला बताया गया है । वहाँ – 'मुझे पत्नी प्राप्त हो' से आरम्भ करके 'पुत्र के द्वारा इस भूलोक का जय होता है, किसी अन्य कर्म से नहीं – कर्मकाण्ड से पितृलोक तथा उपासना से देवलोक जय होता है' – इस प्रकार वाजसनेय (बृहदारण्यक) में उसे आत्मा से भिन्न तीनों लोकों का कारण बताया गया है ।

तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुः उक्तः – 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नो अयम् आत्मा अयं लोकः' (बृ. उ. ४/४/२२) इति । तत्र अयं हेत्वर्थः – प्रजा-कर्म-तत्-संयुक्त-विद्याभिः मनुष्य-पितृ-देवलोक-त्रय-साधनैः अनात्म-लोक-प्रतिपत्ति-कारणैः किं करिष्यामः । न च अस्माकं लोकत्रयम् अनित्यं साधन-साध्यम् इष्टम्, येषाम्-अस्माकं स्वाभाविको-अजो-'अजरो-अमृतो-अभयो' (बृ. ४/४/२५) 'न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्' (बृ. ४/४/२३) नित्यः च लोक इष्टः । स च नित्यत्वात् न अविद्या-निवृत्ति-व्यतिरेकेण अन्य साधन-निष्पाद्यः । तस्मात् प्रत्यगात्म-ब्रह्मविज्ञान-पूर्वकः सर्व-एषणा-संन्यास एव कर्तव्य इति ।।

उसी (उपनिषद्) में संन्यास का विधान देते हुए उसका 'हेतु' बताया गया है – 'आत्मलोक ही अभीष्ट है जिनका, ऐसे हम लोग पुत्र (आदि) को लेकर क्या करेंगे?' उपरोक्त (श्रुति में बताये गये) 'हेतु' का तात्पर्य यह है – मनुष्य, पितृ तथा देव – इन तीनों लोकों की प्राप्ति के कारणभूत पुत्र, कर्म (यज्ञ आदि) और उनसे जुड़ी उपासनाओं से हमें क्या लेना-देना है? साधनों द्वारा प्राप्त करने योग्य ये तीनों अनित्य लोक हमारा लक्ष्य नहीं है । हमें तो वह नित्य-लोक अभीष्ट है, जो मूलतः अजन्मा, अजर, अमर, अभय है और जो कर्म के द्वारा बढ़ता या घटता नहीं है । (वह आत्मलोक) नित्य (शाश्वत) होने के कारण उसकी उपलब्धि में अविद्या को दूर करने के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है । इसलिए (अविद्या-निवृत्ति के द्वारा) अन्तरात्मा तथा ब्रह्म के एकत्व-बोध के लिए समस्त एषणाओं का त्याग करना ही कर्तव्य है ।

कर्मसहभावित्व-विरोधात् च प्रत्यगात्म-ब्रह्मविज्ञानस्य । न हि उपात्त-कारक-फल-भेद-विज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमित सर्वभेद-दर्शनस्य प्रत्यगात्म-ब्रह्म विषयस्य सहभावित्वम् उपपद्यते, वस्तु-प्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वात् ब्रह्म-विज्ञानस्य । तस्माद् दृष्ट-अदृष्टेभ्यो बाह्यसाधन-साध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्म-विषया ब्रह्मजिज्ञासा-इयम् 'केनेषितम्' इत्यादि श्रुत्या प्रदर्श्यते । शिष्य-आचार्य-प्रश्न-प्रतिवचन-रूपेण कथनं तु सूक्ष्म-वस्तु-विषयत्वात् सुख-प्रतिपत्ति-कारणं भवति । केवल-तर्क-अगम्यत्वं च दर्शितं भवति ।

इसके अतिरिक्त अन्तरात्मा तथा ब्रह्म के एकत्व-बोध का कर्मकाण्ड के साथ सह-अस्तित्व परस्पर-विरोधी है । (कर्ता, कर्म आदि) कारकों तथा फलभेद के भाव की स्वीकृति देनेवाले कर्मकाण्ड के साथ समस्त भेददृष्टि-रहित आत्म-ब्रह्मैक्य-बोध का सह-अस्तित्व युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि वस्तुप्रधान होने के कारण ब्रह्मविज्ञान पुरुषतंत्र (करने या न करने की स्वाधीनता) के अधीन नहीं है । अतः 'केनेषितम्' आदि मंत्रों से श्रुति बताती है कि बाह्य साधनों से प्राप्त होनेवाले (धन

आदि) दृष्ट तथा (स्वर्ग आदि) अदृष्ट फलों से विरक्त हुए व्यक्ति में ही अन्तरात्मा-विषयक यह ब्रह्म-जिज्ञासा उठती है। सूक्ष्म विषय होने के कारण इसमें शिष्य तथा आचार्य के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में कथन होने के कारण (तत्त्व का) सहज ही बोध हो जाता है और साथ ही यह भी दिखाया गया है कि केवल तर्क से यह अप्राप्य है।

'नैषा तर्केण मतिः आपनेया' (कठ. उ. १/२/९) इति श्रुतेश्च। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' (छा. उ. ६/१४/२), 'आचार्यात् ह एव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्' इति (छा. उ. ४/९/३), 'तद् विद्धि प्रणिपातेन' (गीता, ४/३४) इत्यादि श्रुति-स्मृति-नियमात् च कश्चिद्-गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवद् उपेत्य प्रत्यगात्म-विषयाद् अन्यत्र शरणम् अपश्यन् अभयं नित्यं शिवम् अचलम् इच्छन् पप्रच्छ इति कल्प्यते –

श्रुति में कहा है, 'तर्क के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।', 'जिसके आचार्य हैं, ऐसा व्यक्ति ही ज्ञान प्राप्त करता है', 'आचार्य से प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है', 'चरणों में अवनत होकर वह ज्ञान प्राप्त करो' – श्रुति-स्मृति के इस नियमानुसार यहाँ कल्पना की गयी है कि कोई व्यक्ति अन्तरात्मा के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय न देखता हुआ; अभय, नित्य, कल्याणमय तथा अचल वस्तु की इच्छा करता हुआ, विधिवत् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर पूछा –

इन्द्रियों आदि के प्रेरक के विषय में प्रश्न –

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥१॥

भावार्थ – ॐ। किसकी इच्छा से भेजा जाकर मन विषयों की ओर दौड़ता है? किसके द्वारा नियुक्त होकर मुख्य प्राण अपने कार्य में लगता है? किसकी इच्छा से यह वाणी बोलती है और कौन-सा देव चक्षु-कर्ण (आदि ज्ञानेन्द्रियों) को उनके विषयों में नियोजित करता है?

भाष्य – केन इषितं केन कर्त्रा–इषितम् इष्टम्-अभिप्रेतं सन् मनः पतति गच्छति स्वविषयं प्रति इति सम्बध्यते। इषेः आभीक्ष्ण्य-अर्थस्य गति-अर्थस्य च इह-असम्भवाद् इच्छा-अर्थस्य एव एतत्-रूपम् इति गम्यते। इषितम् इति इट्प्रयोगः तु छान्दसः। तस्य एव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितम् इति एतत्। तत्र प्रेषितम् इति एव उक्ते प्रेषयितृ-प्रेषण-विशेष-विषय-आकाङ्क्षा स्यात् – केन प्रेषयितृ-विशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणम् इति। इषितम् इति तु विशेषणे सति तद्-उभयं निवर्तते। कस्य इच्छामात्रेण प्रेषितम् इति अर्थविशेष-निर्धारणात्।

किस कर्ता के द्वारा इच्छित होकर मन जाता है; 'अपने विषय के प्रति' – यहाँ सम्बन्ध हेतु इतना जोड़ लेना होगा। इष् धातु के तीन अर्थ हैं – वर्तमान प्रसंग में इसका बार बार होना (आभीक्ष्ण्य) तथा गति अर्थ असम्भव होने के कारण उसका 'इच्छा' अर्थ ही लेना होगा। 'इषितम्' में इट् का आगम वैदिक प्रयोग है। उसी (इष् धातु) के पूर्व 'प्र' (उपसर्ग) लगाकर नियोजित करने के अर्थ में 'प्रेषितम्' बन जाता है। (इषितम् प्रेषितम् – यहाँ दो शब्द क्यों हैं?) यहाँ केवल प्रेषितम् कहने से प्रेषक (भेजनेवाले) तथा प्रेषण की विशेष प्रक्रिया के विषय में प्रश्न उठते कि किस विशेष प्रेषक ने या किस पद्धति से (मन को विषयों की ओर) भेजा। अतः ईषितम् (इच्छित होकर) विशेषण लगा देने से किसी की इच्छा मात्र से प्रेषित होकर – ऐसा विशिष्ट अर्थ निर्धारित हो जाने से दोनों ही प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

यदि एषो-अर्थो-अभिप्रेतः स्यात्, केनेषितम्-इति एतावत् एव सिद्धत्वात् प्रेषितम् इति न वक्तव्यम्। अपि च शब्दाधिक्याद् अर्थाधिक्यं युक्तम् इति इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितम् इति अर्थविशेषो अवगन्तुं युक्तः।

शंका – यदि यही तात्पर्य इष्ट होता, तो 'केनेषितम्' इतना कहने से ही अर्थ हो जाता 'प्रेषितम्' कहने की आवश्यकता नहीं थी। दूसरी बात यह है कि शब्द अतिरिक्त होने से उसका अर्थ भी अलग से जोड़ना उचित है, अतः इच्छा, क्रिया या वाणी – इनमें से किसके द्वारा प्रेषित किया गया – ऐसा विशेष अर्थ (जोड़कर) समझना उचित है।

न, प्रश्न-सामर्थ्यात्; देहादि-संघातात्-अनित्यात्-कर्म-कार्यात्-विरक्तः अतः अन्यत् कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छति इति सामर्थ्याद् उपपद्यते। इतरथा इच्छा-वाक्-कर्मभिः देहादि-संघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धं इति प्रश्नो अनर्थक एव स्यात्।

समाधान – ऐसी बात नहीं है, क्योंकि (किसकी इच्छा से प्रेषित होकर?) इस प्रश्न में ही तात्पर्य छिपा हुआ है और वह यह है कि कोई व्यक्ति कर्मों के फलस्वरूप होनेवाले अनित्य देह आदि के समूह से विरक्त होकर इनसे पृथक् किसी अचल तथा शाश्वत वस्तु को जानने की इच्छा से यह प्रश्न कर रहा है – ऐसा अर्थ लेना ही उचित है। अन्यथा; इच्छा, वाणी या क्रिया के द्वारा देह आदि के समूह को भेजना तो सर्वविदित है, अतः यह प्रश्न निरर्थक ही हो जाता।

एवम् अपि प्रेषित-शब्दस्य अर्थो न प्रदर्शित एव।

शंका – इससे भी तो 'प्रेषित' शब्द का अर्थ नहीं निकला।

न; संशयवतो-अयं प्रश्न इति प्रेषित-शब्दस्य-अर्थविशेष उपपद्यते। किं यथाप्रसिद्धम् एव कार्य-कारण-संघातस्य प्रेषयितृत्वम्, किं वा संघात-व्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य इच्छा-मात्रेण एव मन-आदि-प्रेषयितृत्वम्, इति अस्य अर्थस्य प्रदर्शनार्थं 'केनेषितं पतति प्रेषितं मन' इति विशेषणद्वयम् उपपद्यते।

समाधान – ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह एक (द्वन्द्वग्रस्त) संशयी व्यक्ति का प्रश्न है और इस कारण यहाँ

'प्रेषित' शब्द का एक विशेष अर्थ निकलता है । 'किसकी इच्छा से प्रेरित होकर मन जाता है' – इस वाक्य में इन दोनों विशेषणों का औचित्य इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि क्या वह लोकमान्यता के अनुसार देह-इन्द्रियों के द्वारा भेजा जाता है, या फिर देह आदि से पृथक् कोई स्वतंत्र वस्तु है, जिसकी इच्छा मात्र से ही मन भेजा जाता है ।

ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पतति इति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यते इति ।

शंका – यह सर्वविदित है कि मन स्वतंत्र है और स्वयं ही अपने विषय की ओर जाता है, अतः इस (उसके प्रेषक के) विषय में प्रश्न ही कहाँ उठता है?

उच्यते - यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्ति-निवृत्ति-विषये स्यात्, तर्हि सर्वस्य अनिष्ट-चिन्तनं न स्यात् । अनर्थं च जानन् सङ्कल्पयति, अति उग्र दुःखे च कार्ये वार्यमाणम् अपि प्रवर्तते एव मनः । तस्माद् युक्त एव 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्नः ।

समाधान – बताते हैं । मन यदि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति (करने या न करने) में स्वाधीन होता, तो कोई भी व्यक्ति बुरे विचारों को प्रश्रय न देता । (परन्तु) बुरे विचारों को अनर्थमूलक जानते हुए भी मन उनका चिन्तन करता है और मना किये जाने पर भी अत्यन्त दुःखदायी कार्यों में प्रवृत्त होता है । अतः 'किसके द्वारा इच्छित होकर' आदि प्रश्न उचित ही हैं ।

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्व-व्यापारं प्रति । प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्-पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रिय-प्रवृत्तीनाम् ।

प्राण किसके द्वारा नियुक्त अर्थात् प्रेरित होता हुआ अपने कर्म में प्रवृत्त होता है । प्रथम – यह (श्वास-प्रश्वास-रूप) मुख्य प्राण का विशेषण है; क्योंकि प्राण के बाद ही अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है ।

केन इषितां वाचम् इमां शब्द-लक्षणां वदन्ति लौकिकाः । तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति ।। १ ।।

किसकी इच्छा से लोग इस शब्द-रूप वाणी को बोलते हैं? उसी प्रकार कौन-से देव अर्थात् प्रकाशमान तत्त्व नेत्र तथा कर्णों को भी उनके अपने अपने विषयों में नियुक्त अर्थात् प्रेरित करते हैं ।।

एवं पृष्टवते योग्याय आह गुरुः । श्रृणु यत् त्वं पृच्छसि, मन-आदि-करणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयति इति ।

ऐसा पूछनेवाले योग्य शिष्य के प्रति गुरु ने कहा – जो तू पूछता है कि मन आदि इन्द्रियों के समुदाय को कौन-सा देव उनके विषयों के प्रति भेजता है और कैसे भेजता है, तो सुन –

□ (क्रमशः) □

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

प्रजापति है । इसके दक्षिण तथा उत्तर नामक दो प्रसिद्ध मार्ग हैं।'' (प्रश्नो. १/९) इस प्रकार सवत्सर प्रजापति का प्रतीक है और प्रजापति ब्रह्म का प्रतीक है । विष्णु से सहस्र नामों में से सवत्सर भी विष्णु का एक नाम है और आदित्य, सूर्य तथा शशि भी विष्णु रूप हैं। (गीता, १०/२१) सन्तान की इच्छा से प्रजापति ने तपस्या कर रात्रि और प्राण नामक मिथुन की रचना की, जिससे विविध रूपा सृष्टि का निर्माण हो – ''प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करनेवाले प्रजापति ने तप किया। यह सोचकर कि ये दोनों ही मेरी नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे, उन्होंने सृष्टि के साधनभूत रयि तथा प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया ।'' (प्रश्न.१/४) रयि चन्द्रमा तथा प्राण सूर्य के नाम से अभिहित किये गये हैं । रयि पितृयान और प्राण देवयान है । ''सत्य के मार्ग से देवयान मार्ग खुल जाता है।'' (मुण्डक. ३/१/६) अन्न से भूतों की उत्पत्ति होती है – 'अन्नात् भवन्ति भूतानि।' (गीता ३/४) 'अन्न सोम का रूप है और प्राण अग्नि है।' अन्न तथा उसको खानेवाला अर्थात् सोम तथा अग्नि ही जगत् के मूल कारण हैं । ये दोनों तत्व अविभक्त अवस्था में एक ही हैं । सृष्टि रचना के लिए ही विभक्त हुए हैं।

उस एकात्मक या सोपाधिक ब्रह्म में दो अक्षर हैं। उनमें से एक क्षर – विनाशी तथा दूसरा अक्षर – अविनाशी तत्व का प्रतीक है। क्षर-तत्त्व अविद्या माया तथा अक्षर-तत्त्व विद्या का संकेत है। क्षर-अक्षर तत्त्वों से परे, जो परमात्मा या पुरुषोत्तम-तत्त्व है, वही निरुपाधिक ब्रह्म या शांकर वेदान्त का ईश्वर है। वैशेषिक दर्शन में दिन, मास, ऋतु आदि नामों से युक्त काल सोपाधि है और उपाधि से परे पारमार्थिक रूप से वह निरुपाधि है । वस्तुतः काल अनन्त है । दिन, मास, ऋतु आदि के व्यावहारिक रूप आरोपित हैं । शैवदर्शन में काल महाकाल परमशिव का रूप है। संवत्सर सोपाधि काल है और इसके दो मार्ग सत्य-असत्य, प्रकाश-अन्धकार, गति-अगति, चल-अचल, सम्भूति-असम्भूति, कर्म-संन्यास, रचना-विनाश, अमृत-मृत्यु, स्वर्ग-मोक्ष, नरत्व-देवत्व तथा उत्थान-पतन हैं। अतः उत्तरायण हमारे जीवन का उदात्त, दिव्य, प्रकाशित एव सत्यतापूर्ण समुज्जवल पक्ष है। यह पर्व हमारे आध्यात्मिक चिन्तन तथा आचरण की अभिव्यक्ति है; जिसकी आराधना में प्राणों की नीराजना करने को आतुर मृत्युशय्या पर पड़े आज एक नहीं करोड़ों भीष्मों की जरूरत है । यही इस पर्व की प्रतीकात्मकता है। □

रविवार, २ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : विश्व-मानव स्वामी विवेकानन्द

सोमवार, ३ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

❖

मगलवार, ४ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : इस सदन की राय में वर्तमान शिक्षा-पद्धति राष्ट्र के सर्वांगीण विकास में असफल रही है।

बुधवार, ५ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय इस सदन की राय में युवावर्ग के अनिवार्य सैनिक-प्रशिक्षण से ही देश की समुचित सुरक्षा सम्भव है।

गुरुवार, ६ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

शुक्रवार, ७ जनवरी सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : राष्ट्रभक्ति के उद्बोधक स्वामी विवेकानन्द

शनिवार, ८ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : मेरे आदर्श-पुरुष स्वामी विवेकानन्द

रविवार, ९ जनवरी सायकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

(रनिंग शील्ड)

विषय : इस सदन की राय में जीवन की सफलता के लिए धन की अपेक्षा विद्या अधिक आवश्यक है।

सोमवार, १० जनवरी — सायंकाल ६ बजे

अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता

(रनिंग कप)

बुधवार, १२ जनवरी — प्रातःकाल ९ बजे

राष्ट्रीय युवा दिवस

(पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय के परिसर में)

स्वामी विवेकानन्द के प्रति युवाशक्ति की श्रद्धांजलियाँ

सायंकाल ६ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

१३ से १९ जनवरी तक — प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

भागवत-प्रवचन

प्रवचनकार : आचार्य शुकरत्न उपाध्याय, एम.ए., पी.एच.डी., साहित्याचार्य, शिक्षाशास्त्री, तीर्थद्वय, रत्नद्वय
अध्यक्ष - अध्यात्म विद्या प्रतिष्ठान, ग्वालियर

२१ से २५ जनवरी तक — प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

(श्री राजेश रामायणी)

२६ जनवरी से ३ फरवरी तक — प्रतिदिन सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

प्रवचनकार : पं. रामकिंकरजी उपाध्याय

श्री माँ सारदादेवी का १४७ वाँ जयन्ती समारोह

जन्मतिथि पूजा — बुधवार, २९ दिसम्बर, १९९९

(मंदिर में कार्यक्रम)

मंगल आरती, प्रातःवंदना तथा ध्यान	प्रातः ५ से ७ बजे तक
विशेष पूजा, भजन तथा हवन	प्रातः ७.३० से १२तक
संध्या आरती, प्रार्थना तथा भजन	सायं ५.४५ से ७ तक

स्वामी विवेकानन्द जन्मतिथि उत्सव

जन्मतिथि पूजा — गुरुवार, २७ जनवरी, २०००

(मंदिर में कार्यक्रम)

मंगल आरती, प्रातःवंदना तथा ध्यान	प्रातः ५ से ७ बजे तक
विशेष पूजा, भजन तथा हवन	प्रातः ७.३० से १२तक
संध्या आरती, प्रार्थना तथा भजन	सायं ६ से ७ बजे तक

श्रीरामकृष्णदेव का १६५ वाँ जयन्ती महोत्सव

जन्मतिथि पूजा — बुधवार, ८ मार्च, २०००

(मंदिर में कार्यक्रम)

मंगल आरती, प्रातःवंदना तथा ध्यान	प्रातः ५ से ७ बजे तक
विशेष पूजा, भजन तथा हवन	प्रातः ७.३० से १२तक
सध्या आरती, प्रार्थना तथा भजन	सायं ६.१५ से ८ बजे तक

❖